UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180063

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—787—13-6-75—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H8:1 Accession No. R Gr. H588

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

अवध की शाम

ख्वाजा अहमद अब्बास

प्रथम संस्करण १९५१
द्वितीय संस्करण १९५६

मूल्य

प्रकाशक
नीलाभ-प्रकाशन, ५ खुसरो बाग़ रोड,
इलाहाबाद ।

मुद्रक
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स, ३ क्लाइव रोड,
इलाहाबाद

उन शामों की याद में
जो इलाहाबाद और लखनऊ के दोस्तों में गुज़ारीं।

प्रकाशकीय

ख़्वाजा अहमद अब्बास की प्रतिभा बहुमुखी है। वह पत्रकार भी है, कहानी लेखक भी, फ़िल्मकार भी और वक्ता भी!

जो लोग बम्बई का प्रसिद्ध साप्ताहिक 'ब्लिट्ज़' पढ़ते हैं, वे उसके पत्रकार की सफलता को जानते हैं, क्योंकि पत्र हाथ में आते ही वे सबसे पहले उसका अंतिम पृष्ठ पढ़ने को लालायित हो उठते हैं, जो अब्बास ही के कलम से लिखा होता है। जिन लोगों ने 'डा० कोटनिस की अमर कहानी,' 'धरती के लाल' और 'अनहोनी' फ़िल्म देखे हैं, वे अब्बास के फ़िल्मकार का लोहा मानते हैं। बम्बई के प्लेटफ़ार्म और श्रोता अब्बास के भाषणों से भली-भाँति परिचित हैं और वहाँ की जनता जानती है कि वह कैसे अँग्रेज़ी-उर्दू दोनों में समान-रूप से

धारा-प्रवाह बोलता है। रही कहानी—तो अभी कुछ ही वर्ष पहले उसकी कहानी 'सरदार जी' ने कराची से लेकर बंगाल तक धूम मचा दी थी। उर्दू हिन्दी के पाठक अब्बास की कहानियों से अनभिज्ञ नहीं। उनमें समाचार-पत्रों की ताज़गी, फ़िल्मों का-सा मनोरंजन, भाषण की-सी रवानी और उत्कृष्ट कला का स्थायित्व होता है।

'अवध की शाम' में अब्बास की आठ कहानियाँ संकलित हैं, जिन्हें एक बार पढ़कर फिर बार-बार पढने को मन चाहता है।

प्रकाशक

अनुक्रम

१.	दीवार	११
२.	अवध की शाम	३५
३.	नयी बरसात	५६
४.	दारोग़ा साहब	६३
५.	आसमानी तलवार	१०३
६.	बारह घंटे	११८
७.	मैं कौन हूँ ?	१३४
८.	चमत्कार	१५०

अवध की शाम

दीवार

"मेजर रफ़ीक मारा गया !"

"मेजर रफ़ीक मारा गया !"

हर आदमी की ज़बान पर यही शब्द थे। हिन्दुस्तानी सेना के अफ़सर और सिपाही, गुरेज घाटी के रहने वाले काश्मीरी, चौरावन गाँव के लुटे-खसुटे मुसलमान शरणार्थी, जो नामधारी मुजाहिदों के हाथों अपने घर-बार, माल-असबाब और अपनी स्त्रियों की लाज गँवा कर आये थे.....सब इसी खबर की चर्चा कर रहे थे।

"मेजर रफ़ीक मारा गया !"

दो दिन हुए, हिन्दुस्तानी फौज की एक टुकड़ी ने रात के अँधेरे से लाभ उठा कर नदी के किनारे-किनारे जाकर दुश्मन की एक पहाड़ी चौकी पर छापा मारा था। कई हमलावर मरे थे और कई घायल

होकर भाग खड़े हुए थे, जिनमें एक अफ़सर भी था। आज एक बूढ़ा काश्मीरी किसान, जो उस इलाके में घास काटने के बहाने से गया था, यह ख़बर लाया था कि वह अफ़सर जो घायल हुआ था, मेजर रफ़ीक ही था और ज़ख़्मी होने के चौबीस घंटे बाद मर गया था। यह ख़बर उसी ने हमलावर फ़ौज के कई सिपाहियों की ज़बानी सुनी थी, जो अपने अफ़सर की मौत पर शोक प्रकट कर रहे थे।

"मेजर रफ़ीक मारा गया!"

इस ख़बर से सारे कैम्प में हलचल मची हुई थी। हर अफ़सर और सिपाही ख़ुश मालूम होते थे। छापा आशा से अधिक सफल हुआ था। जिन छः जवानों ने इसमें भाग लिया था, उनमें से जो पाँच ज़िन्दा आये थे, उनको सब बधाई दे रहे थे। छूटा एक पिस्तौल की गोली—शायद मेजर रफ़ीक के पिस्तौल की गोली—खाकर अपनी जान दे चुका था। पर उसकी मौत का बदला ले लिया गया था। एक मामूली सिपाही के बदले एक अफ़सर! और अफ़सर भी मेजर रफ़ीक जैसा होशियार और चालाक जो युद्ध के प्रत्येक गुर से परिचित था और जिसके बारे में अकसर लोगों की यह राय थी कि पाकिस्तानी फ़ौज के जितने अफ़सर काश्मीर के मोर्चे पर लड़ रहे हैं, उनमें वह सबसे अधिक योग्य—और इसीलिए सबसे अधिक ख़तरनाक था।

"मेजर रफ़ीक मारा गया!" कैप्टन रामसिंह ने कमांडिंग अफ़सर के कमरे में दाख़िल होकर सलाम करते हुए कहा। अफ़सर और सिपाही मिलाकर वह सत्रहवाँ आदमी था, जिसने यह ख़बर अपने कामांडिंग अफ़सर लेफ़्टिनेन्ट राजेन्द्र सिंह को सुनायी थी।

"सुन चुका हूँ। क्या बटालियन का हर अफ़सर और हर सिपाही यह ख़बर अलग-अलग मुझे सुनायेगा?" कर्नल राजेन्द्र का

स्वर रूखा और नाराज़गी से भरा हुआ था। "माफ़ कीजिए साहब ! भूल हो गयी।" कैप्टन ने खटाक से एड़ियाँ मिलाते हुए सलाम किया और जान बचा कर भागा। न जाने कर्नल इतने खराब मूड में क्यों था ?

"मेजर रफ़ीक मारा गया !"

"मेजर रफ़ीक मारा गया !"

"मेजर रफ़ीक मारा गया !"

कर्नल राजेन्द्र दो घण्टे से यही खबर बार-बार सुन रहा था। उसने सोचा—क्या ये सब यह कह-कह कर मुझे चिढ़ा रहे हैं ?··· नहीं तो इस बार-बार के दोहराने से क्या लाभ ? आखिर वे चाहते क्या हैं ? एक दोस्त की मौत की खुशी में खड़ा होकर नाचने लगूँ ?

दोस्त ! हाँ मेजर रफ़ीक उसका दोस्त था। "नहीं नहीं !" उसने सोचा—"रफ़ीक मेरा दुश्मन था। वहशी हमलावरों को साथ लेकर काश्मीर पर हमला करने आया था। हिन्दुस्तानी फ़ौज के मुकाबले में लड़ रहा था। अगर वह मारा गया तो क्या हुआ ? उसने अपने किये की सज़ा पायी। मुझे क्या ज़रूरत है कि खाह-म-खाह मुँह फुलाकर बैठा रहूँ। मुझे तो खुशी होनी चाहिए, हँसना चाहिए। कम-से-कम मुस्कराना चाहिए····· ।"

पर कोशिश करने पर भी उसके चेहरे पर मुस्कराहट के कोई चिन्ह उत्पन्न न हुए। तो क्या उसके दिल में रफ़ीक का प्रेम और दोस्ती का भाव अब तक चोरों की तरह छिपा बैठा था ?—अब तक ? —उस तमाम खून, तबाही और बरबादी के बावजूद जो रफ़ीक जैसे पाकिस्तानी मुसलमानों के हाथों निर्दोष और निस्सहाय हिन्दुओं पर आयी थी ? आग के उन शोलों के बावजूद जिनमें राजेन्द्र का घर

रावलपिण्डी में जल कर खाक हो गया था ? उस पाकिस्तानी छुरे के बावजूद जो राजेन्द्र के बूढ़े पिता की पीठ में घोंपा गया था ! उन खून की नदियों के बावजूद जो मिलकर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच एक पार न की जा सकने वाली खाई बन गयी थीं !···नहीं, नहीं, रफ़ीक उसका दोस्त नहीं हो सकता। उसकी मौत पर उसे ज़रा भी दुखी न होना चाहिए, हँसना चाहिए, कम-से-कम मुस्कराना तो चाहिए। पर बहुत कोशिश करने पर भी उसके चेहरे पर मुस्कराहट के कोई चिन्ह उत्पन्न न हुए·····।

अपने हृदय की धड़कन में वह बराबर एक ही आवाज़ सुनता रहा—रफ़ीक, रफ़ीक, रफ़ीक ! और स्मृति की धारा पर बहता हुआ वह बहुत दूर अतीत के भूले हुए काल में खो गया।

रफ़ीक !

यह केवल उसका नाम ही नहीं था बल्कि वह सचमुच राजेन्द्र का रफ़ीक—साथी—था। बचपन का साथी, पड़ोसी और दोस्त। उसके नाम के साथ बचपन की कितनी सुखद स्मृतियाँ सम्बन्धित थीं।

रावलपिण्डी की कालेज रोड पर डाक्टर महेन्द्र नाथ साहनी का बेटा राजेन्द्र और रिटायर्ड सूबेदार मेजर मुहम्मद शफ़ी खाँ का बेटा रफ़ीक, एक साथ पाये जाते थे। जब वे बिलकुल छोटे थे तो और बच्चों के साथ मिलकर अपनी कोठियों के एक ही अहाते में मिट्टी के घरौंदे बनाते, फिर उन्हें ढाते, रंगीन तितलियों का पीछा करते, कच्चे अमरूद तोड़ने के लिए पेड़ों पर चढ़ते, वहाँ से गिरते, फिर रोते।

रफ़ीक और राजेन्द्र, राजेन्द्र और रफ़ीक !

रफ़ीक इस्लामिया हाई स्कूल में पढ़ने को भेजा गया और राजेन्द्र आर्य समाज हाई स्कूल में। किन्तु स्कूल के अतिरिक्त वे सारा समय

एक साथ ही बिताते। सिनेमा, सैर व तफ़रीह, पिकनिक, खेल-कूद—हर जगह साथ रहते। राजेन्द्र को डाक के टिकट जमा करने का शौक था। सूबेदार मेजर साहब के पास उनके पुराने अंगरेज़ दोस्तों के ख़त आते तो बाप लिफ़ाफ़ा भी न खोलने पाता कि रफ़ीक अपने मित्र के लिए लिफ़ाफ़ा झपट लेता और टिकट तुरन्त राजेन्द्र को पहुँचा देता। रफ़ीक को कभी मामूली खाँसी-जुकाम की शिकायत हो जाती तो राजेन्द्र तुरन्त पिता के पास पहुँच जाता और उन्हें मजबूर करता कि रफ़ीक को कड़ुवे मिक्सचर की जगह वह स्वादिष्ट और बढ़िया चूसने वाली खाँसी की गोलियाँ दें, जिनमें से कभी-कभी वह स्वयं भी एक आध चख लिया करता था। यह सोचकर बीस वर्ष बाद भी राजेन्द्र अनायास मुस्करा दिया।

राजेन्द्र और रफ़ीक, रफ़ीक और राजेन्द्र!

गवर्नमेंट कालेज में दोनों फिर साथ हो गये। क्रिकेट का दोनों को शौक था। दोनों कालेज की टीम में थे। राजेन्द्र सफल बॉलर था और रफ़ीक रन बनाने में अव्वल नम्बर! मैच और टूर्नामेंट इन दोनों के बल-बूते पर ही जीते-जाते। पर दोनों एक दूसरे को छेड़ते। रफ़ीक कहता—"मैंने सेन्चुरी न बनायी होती तो पिट कर आते तुम।" और राजेन्द्र जवाब देता—"जी, और अगर मैंने साठ रन में पाँच विकट न लिये होते तब देखते।" और फिर दोनों एक साथ हँस पड़ते। क्या ज़माना था वह भी!

रफ़ीक और राजेन्द्र, राजेन्द्र और रफ़ीक!

सूबेदार मेजर साहब का तो शुरू से ही रफ़ीक को फ़ौज में भेजने का इरादा था। वे चाहते थे कि रफ़ीक मैट्रिक तक पढ़ कर वायसराय कमीशन की दरख़्वास्त दे दे, किन्तु इस तरह राजेन्द्र का साथ छूटता था। इसलिए लड़-झगड़ कर रफ़ीक ने बाप को कालेज की पढ़ाई के

लिए राज़ी कर लिया ! यह भी समझाया कि बी० ए० होने के बाद बादशाही कमीशन मिलने की सम्भावना अधिक हो जायगी और जमादार के बजाय वह लेफ़्टिनेन्ट का पद पा सकेगा। यह बात सूबेदार मेजर साहब की समझ में आ गयी और रफ़ीक को राजेन्द्र के साथ और चार साल बिताने का मौका मिल गया।

कालेज के दिन भी क्या बेफ़िक्री के दिन थे ! साल में नौ महीने पहले पढ़ाई शुरू कर देते। विषय भी दोनों ने एक ही लिये थे। रफ़ीक हिसाब में कमज़ोर था, उसमें राजेन्द्र उसकी मदद करता। राजेन्द्र साहित्य में कमज़ोर था, रफ़ीक उसे शेक्सपियर और शॉ का महत्व समझाता ! गर्मी की छुट्टियाँ भी साथ ही बिताते। कभी शिमले में राजेन्द्र के मामा के यहाँ, तो कभी रफ़ीक के फूफा के यहाँ मरी में। एक बार दोनों मिलकर काश्मीर गये। हाउस बोट में ठहरे। शिकारे में बैठकर डल की सैर की, गुलमर्ग और खिल्लनमर्ग होते हुए अलपत्थर की बर्फ़ीली झील देखने चढ़े। वापसी पर रफ़ीक ने कहा—"यार, मरने से पहले एक बार और आयेंगे।"

बी० ए० के इम्तहान के बाद जब फ़ौज के लिए कम्पिटीशन में बैठने का समय आया तो रफ़ीक ने राजेन्द्र से कहा—"छोड़ो यार, कौन फ़ौज में लैफ़्ट-राईट करेगा। हम तुम लाहौर एम० ए० करेंगे।" राजेन्द्र ने जवाब दिया—"घास खा गया है ? मैंने तो तेरी वजह से फ़ौज में भरती होने की दरख़्वास्त दे रखी है और तू दुम दिखा रहा है।" दोनों इम्तहान में साथ ही पास हुए और देहरादून में ट्रेनिंग के बाद सेकंड लेफ़्टिनेन्ट नियुक्त हुए।

राजेन्द्र और रफ़ीक, रफ़ीक और राजेन्द्र !

और फिर कुछ दिनों के लिए उनका साथ छूट गया। राजेन्द्र

को पूना भेजा गया और रफ़ीक को कोयटा। हर साल गर्मियों में दोनों काश्मीर जाने का इरादा करते, मगर दोनों अलग-अलग रेजीमेंटों में थे, कभी साथ छुट्टी का मौका ही न मिला। रफ़ीक छुट्टी पाता तो राजेन्द्र व्यस्त होता और राजेन्द्र को छुट्टी मिलती तो रफ़ीक को रेजीमेंट में वापस बुला लिया जाता। रफ़ीक लिखता—"यार तुम अकेले ही हो आओ।" राजेन्द्र जवाब देता—"छोड़ यार, काश्मीर में कौन सुर्खाब के पर लगे हैं। चले चलेंगे किसी और साल।"

सेकन्ड लेफ़्टिनेन्ट से लेफ़्टिनेन्ट, लेफ़्टिनेन्ट से कैप्टन। तरक्की लगभग साथ-ही-साथ मिली, मगर मुद्दत तक एक जगह नियुक्त न हो सके। राजेन्द्र की बदली इलाहाबाद की हुई, तो रफ़ीक की रेजीमेंट पूना भेजी गयी। राजेन्द्र पूना वापस हुआ, तो रफ़ीक सिकन्दराबाद में पाया गया। जब रफ़ीक का विवाह हुआ तो राजेन्द्र बारात में जालन्धर न जा सका, किन्तु दो दिन की छुट्टी लेकर हवाई जहाज से रावलपिण्डी शादी की दावत में शरीक होने के लिए आया। रफ़ीक की पत्नी पर्दा करती थी, किन्तु रफ़ीक ने माँ से कहा—"और किसी से पर्दा करे या न करे, राजेन्द्र से पर्दा नहीं हो सकता।" माँ ने आज्ञा दे दी—"हाँ हाँ, देवर से पर्दा कैसा?" और राजेन्द्र ने बाहर से चिल्ला कर कहा, "माँ जी, मैं देवर नहीं, जेठ हूँ जेठ, यह रफ़ीक तो लौंडा है हमारे सामने का।" सब ठट्ठा लगा कर हँस पड़े, यहाँ तक कि लाल दुशाले में लिपटी हुई दुलहन को भी हँसी आ गयी। राजेन्द्र ने मुख देखा तो हाथ पर मुँह दिखायी की एक अशर्फ़ी रखते हुए बोला—"बेचारी बच्ची! अफ़सोस है, तेरी किस्मत भी किस जांगलू से फोड़ी गयी!" और रफ़ीक ने धौल जमाते हुए कहा—"क्यों बे, प्रोपेगेंडा करता है हमारे खिलाफ़?"

और फिर दोनों में तय हुआ कि रफ़ीक का हनीमून उस समय तक स्थगित रहेगा जब तक राजेन्द्र का भी विवाह न हो जाय। बात उसकी भी पक्की हो चुकी थी और सितम्बर में विवाह की तिथि निश्चित हुई थी। इसके बाद तुरन्त ही दोनों जोड़े हनीमून के लिए इकट्ठे काश्मीर जायेंगे। "देख बे, मेरे बिना मत चल देना!" राजेन्द्र ने अगले दिन खाना खाते समय याद दिलाया। और रफ़ीक ने कहा— "नहीं यार, अकेले जाने में क्या मज़ा है। पर सितम्बर में महीने भर की छुट्टी का अभी से इन्तज़ाम कर लेना चाहिए।"

और सितम्बर में दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया। राजेन्द्र को विवाह स्थगित करना पड़ा क्योंकि उसकी रेजीमेंट को तुरन्त मलाया भेज दिया गया। रफ़ीक को ट्रेनिंग के काम पर चला दिया गया। जब अंग्रेजी फ़ौजें मलाया से पीछे हटीं तो राजेन्द्र बर्मा के मोर्चे पर भेजा गया। इस बीच रफ़ीक अफ़्रीका पहुँच चुका था। अलहालमीन की लड़ाई के बाद रफ़ीक मेजर बना दिया गया। कोहीमा के पहाड़ी मोर्चे पर राजेन्द्र को मेजर का पद मिला। दोनों ने अपनी-अपनी जगह नाम पाया। रफ़ीक ब्रिगेड मेजर की हैसियत से फ़ौजी दाँव-पेच (Strategy and Tectics) का विशेषज्ञ माना गया। राजेन्द्र ने गोलों और गोलियों की बौछाड़ में दुश्मन पर जवाबी हमले करके अपने योग्य कमांडर होने का प्रमाण दिया।

लड़ाई खत्म होने के कुछ हफ़्ते बाद संयोगवश दोनों मित्र दिल्ली के रेलवे स्टेशन पर मिल गये। रफ़ीक कुछ दिनों के लिए रावलपिण्डी होकर आ रहा था और राजेन्द्र शादी के लिए जा रहा था। बहुत कोशिश करने पर भी रफ़ीक को विवाह में सम्मिलित होने की छुट्टी न मिल सकी, क्योंकि उसकी रेजीमेंट

जापान भेजी जा रही थी। अस्तु, स्टेशन पर वेटिंग-रूम में दोनों मित्र कई वर्ष के बाद मिले तो एक दूसरे से लिपट गये।

"कहो बेटा, सुना है जापान जा रहे हो! वहाँ गैशा लड़कियों से बचकर रहना," राजेन्द्र ने रफ़ीक की कमर पर एक धप जमाते हुए कहा।

"क्यों, मुँह में पानी तो भर आया होगा?" रफ़ीक ने जवाब दिया।

एक पुराने और अनुभवी पति की हैसियत से रफ़ीक ने राजेन्द्र को वैवाहिक जीवन की बारीकियाँ समझायीं, और एक बार फिर यह तय हुआ कि जापान से वापसी पर दोनों मित्र अपनी-अपनी पत्नियों को साथ लेकर काश्मीर जायेंगे।

"अगर दिसम्बर में भी छुट्टी मिली तो भी जायेंगे," राजेन्द्र ने कहा।

"हाँ, हाँ, बर्फ़ का मज़ा रहेगा," रफ़ीक बोला।

साथ ही रिफ्रेशमेन्ट रूम में खाना खाया! व्हिस्की के साथ एक दूसरे के नाम पर सेहत के जाम पिये गये! दो-तीन पेग के बाद रफ़ीक ने पूछा—"क्यों राजेन्द्र, गोरी चमड़ी के हाथ कैसी बीती?"

राजेन्द्र ने एक घूँट पीते हुए जवाब दिया—"सच बताऊँ, मुझे तो दुख है कि एक दो मौके मिलने पर भी क्यों न आज़ाद हिन्द फ़ौज में मिल गया। हम लोग कितनी ही जान लड़ा दें, ब्रिगेडियर और जनरल अंग्रेज़ों को ही बनाया जाता है। तुम सुनाओ, तुम पर क्या बीती?"

"वही जो तुम पर बीती। जर्मनों से लड़ो, आँधी, गर्मी, तूफ़ान, रेगिस्तान का मुकाबला करो और फिर अंग्रेज़ों की जूतियाँ सीधी करो।"

राजेन्द्र ने चौथे पेग को ख़त्म करते हुए कहा—"यार, हम इन सालों को निकाल बाहर क्यों नहीं करते ?"

रफ़ीक ने पाँचवें पेग में सोडा मिलाते हुए कहा—"ख़ुदा भला करे हमारे लीडरों का ! इसकी उम्मीद कम ही नज़र आती है।"

राजेन्द्र ने कुछ सोच कर कहा—"यह काम फ़ौज को करना पड़ेगा। ये लातों के भूत बातों से न मानेंगे। क्यों, क्या कहते हो ?"

पाँचवें पेग का अन्तिम घूँट लेते हुए रफ़ीक ने बात के सिलसिले को एक और ही रुख दिया—"तुम्हें काहिरा की एक घटना सुनाता हूँ। जब हमारी रेजीमेंट मोर्चे से दो हफ़्ते के लिए आराम करने को वहाँ भेजी गयी तो हमारा कैम्प शहर के बाहर पिरामिड के पास लगा हुआ था। अच्छा-ख़ासा इन्तजाम था। खेमों की लाइनें दूर तक लगी हुई थीं। और हर आठ खेमों के बीच पीने और नहाने के लिए पानी के दो नल लगे थे। समझे तुम ? दो नल !"

राजेन्द्र ने छठा पेग उँडेलते हुए कहा—"हाँ हाँ, समझ गया।"

"तुम ख़ाक नहीं समझे। दो नल ! क्या समझे...? दो नल...! और दोनों पर तख्तियाँ लगी हुई थीं। जानते हो, उन पर क्या लिखा था ? बताओ उन पर क्या लिखा था ?"

"मुझे क्या पता ? तुम ही बताओ न !"

"एक पर लिखा था—'हिन्दुओं के लिए;' दूसरी पर लिखा था—'मुसलमानों के लिए'.....क्या समझे ?"

राजेन्द्र ने, जो छै पेग पी चुका था, अपने गिलास को ज़मीन पर दे मारा—वह चूर-चूर हो गया—"बदमाश कहीं के। सफ़ेद मुँह के बन्दर।"

रफ़ीक क्यों पीछे रहता ! उसने भी अपना गिलास धरती पर

दे मारा और बोला—"अब समझे, ये किस तरह हमें अलग-अलग रखते हैं!"

रिफ्रेशमेंट रूम में बैठे हुए सब लोग और बैरे दोनों की ओर देखने लगे। मगर किसी की हिम्मत न पड़ी कि फ़ौजी अफ़सरों से जाकर उलझे।

बैरे ने चुपके से दो और गिलास सामने लाकर रख दिये। सातवाँ पेग दोनों में उँडेल दिया गया।

"मगर जानते हो, हमारे हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने—हिंदू, मुसलमान, सिख, राजपूत, पठान, अछूत सिपाहियों ने क्या किया? बताओ क्या किया?" रफ़ीक ने अपने दोस्त से सवाल किया।

"तुम ही बताओ यार।"

"मैं बताता हूँ। उन्होंने उन तख़्तियों को उठा कर फेंक दिया। कम-से-कम उस कैम्प में हिन्दू मुसलमान का सवाल न आने दिया।"

"शाबाश! हिन्दुस्तानी फ़ौज ज़िंदाबाद!" राजेन्द्र चिल्लाया—"आओ हम उनके नाम पर जाम पीयें।"

दोनों ने गिलास उठाये, एक दूसरे के गिलास से खनकाये और गटगट पी गये। लेकिन फिर रफ़ीक एकदम मुरझा सा गया। इस बार ज़रा मन्द स्वर में उसने पूछा—"और फिर जानते हो क्या हुआ?"

राजेन्द्र ने इनकार में सिर हिलाया।

रफ़ीक ने अपना बयान जारी रखा—"अंग्रेज़ बड़े अफ़सरों ने उन तख़्तियों को फिर से नलों पर लगवा दिया। जब हम हिन्दुस्तानी अफ़सरों ने विरोध किया तो उन्होंने कहा कि मलिका विक्टोरिया के ऐलान के अनुसार, हिन्दू मुसलमानों के मज़हबी जज़्बात का ख़याल

रखना उनका फ़र्ज़ है। इसलिए धर्म शास्त्रों और शरीअत पर अमल करते हुए हिन्दू मुसलमान अलग-अलग नलों से पानी पियेंगे।"

राजेन्द्र ने गिलास मेज़ पर रखते हुए कहा—"और तुम लोगों ने क्या कहा ? क्या किया ?"

"हमने कुछ नहीं कहा, कुछ नहीं किया। कुछ दिनों में सब अलग-अलग नलों से पानी पीने के आदी हो गये। बल्कि एक बार एक मुसलमान का हाथ भूल से किसी हिन्दू सिपाही की बाल्टी से लग गया तो उसने शोर मचा दिया। खाना पकने का इन्तज़ाम तो पहले ही अलग-अलग था, अब मुसलमानों ने इसरार किया कि चाय, जो सब के लिए एक जगह बनती थी, वह भी हिन्दुओं के लिए अलग बने और मुसलमानों के लिए अलग।"

और फिर दोनों पर कई मिनट के लिए उदास खामोशी छायी रही।

राजेन्द्र दाँत भींचकर बोला—"दो नल !"

रफ़ीक मानो नींद से चौंक कर बर्राया—"दो पानी के नल !"

राजेन्द्र ने किसी अनदेखे अँग्रेज़ को मानो मुँह चिढ़ाते हुए कहा—"यह हिन्दुओं के लिए है।"

रफ़ीक ने नफ़रत से मुँह बिगाड़ कर कहा—"यह मुसलमानों के लिए है।"

"दो नल !" राजेन्द्र ने मानो एक महत्वपूर्ण घोषणा की।

"दो पानी के नल !" रफ़ीक ने 'पानी' पर ज़ोर देते हुए इस घोषणा की पुष्टि की।

फिर दोनों ने आठवाँ पेग पीकर बैरे को आर्डर दिया कि वह और हिस्की लाये। इतने में एक मोटा, लाल मुँह का अँग्रेज़

आया और उनके सामने की मेज़ पर बैठकर अत्यन्त आदेशात्मक स्वर में चिल्लाने लगा— "व्वॉय ! व्वॉय !"

उसको देखते ही दोनों की आँखें नफ़रत और गुस्से से लाल हो गयीं।

"देखते हो ?" राजेन्द्र बोला।

"हूँ !" रफ़ीक गुर्राया।

"हम क्यों इन्हें निकाल बाहर नहीं करते ?"

"यही करना पड़ेगा, फ़ौज को यह इंकलाबी कदम उठाना पड़ेगा।"

और रफ़ीक की ट्रेन का वक्त हो गया था। वह कलकत्ता होता हुआ जापान चला गया था और राजेन्द्र रावलपिण्डी। विदा होते समय एक बार दोनों दोस्तों ने फिर वादा किया था कि पहली छुट्टी में दोनों अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर काश्मीर जायेंगे।

राजेन्द्र का विवाह धूमधाम से हुआ किन्तु अपने मित्र की अनुपस्थिति में उसे कोई खास-मज़ा न आया। बार-बार उसका जी चाहता कि रफ़ीक वहाँ हो और उसे और उसकी नयी-नवेली वधू को छेड़े। फेरे खत्म हुए ही थे कि कलकत्ते से तार आया। रोमन अक्षरों में लिखा था—"दूल्हा मियाँ, शादी मुबारक ! तुम्हारा रफ़ीक।" तार पढ़ कर राजेन्द्र की आँखों में आँसू आ गये।

उसकी पत्नी ने अगले दिन पूछा—"यह आपके दोस्त रफ़ीक मुसलमान हैं ?"

और राजेन्द्र ने तिनक कर जवाब दिया—"वह मुसलमन नहीं है और मैं हिन्दू नहीं हूँ। हम सिर्फ़ दोस्त हैं।"

फिर वह अपनी पत्नी को अहाते में ले गया था, यह कहता

हुआ—"हम दोनों बचपन से साथ खेले हैं, साथ शरारतें की हैं। हमारे कारण हमारे बंगलों के बीच कभी अहाते की दीवार नहीं बनी। हमनें बनने ही नहीं....."

उसकी ज़बान पर वाक्य अधूरा रह गया, क्योंकि उसने देखा कि नयी ईंटों की पाँच फुट ऊँची दीवार दोनों बंगलों के बीच खड़ी मानो उसका मुँह चिढ़ा रही थी।

वह दीवार आज भी राजेन्द्र की कल्पना में खड़ी हुई उसका मुँह चिढ़ा रही थी। वह दीवार ऊँची होती गयी थी। दो बंगलों केबीच ही नहीं, दो जातियों,दो धर्मों के बीच खड़ी हो गयी थी। उस दीवार ने हिन्दुस्तान को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में बाँट दिया था। फिर भी राजेन्द्र को विश्वास था कि वह उसके और रफ़ीक के बीच कभी न खड़ी हो सकेगी। जब मार्च-अप्रैल में रावलपिण्डी के ज़िले में दंगे हुए तो रफ़ीक का तार जापान से अपने पिता के पास आया कि राजेन्द्र के घर वालों की रक्षा करना उसका फ़र्ज़ है। और कई रातें बूढ़े सूबेदार मेजर साहब ने डाक्टर साहनी की कोठी के गिर्द पहरा देते हुए बिता दीं।

३ जून की घोषणा के कुछ ही दिनों बाद जब राजेन्द्र पूना में था उसको एक किताब डाक से मिली। वह "फौजी टैक्टिक्स और स्ट्रैटेजी" (Military Tactics and Strategy) के बारे में थी, जो रफ़ीक ने स्टाफ़ कालेज के कोर्स के लिए लिखी थी। समर्पण उसी के नाम से था—"राजेन्द्र के नाम, जो एक योग्य सैनिक अफ़सर होने के अतिरिक्त एक अनमोल मित्र भी है..."राजेन्द्र जानता था कि रफ़ीक युद्धकला में प्रवीण है, इसीलिए उसी समय पन्ने उलटने लगा। एक पृष्ठ पर उसने पढ़ा—

"युद्ध भी पहलवानों की कुश्ती के समान है। केवल ताकत और ज़ोर से ही विजय प्राप्त नहीं हो सकती, दिमाग़

भी इस्तेमाल करना होता है, चालाकी से भी काम लेना होता है। आधी जीत तो इसी में है कि शत्रु को अचम्भे में डाल दिया जाय। उसे यह न ज्ञात हो सके कि तुम्हारी अगली गति-विधि क्या और किधर होगी। वह यह सोचता ही रहे कि आक्रमण पूर्व से होगा या पश्चिम से, और इस बीच में तुम्हारा आक्रमण उत्तर से हो जाय·····"

तीन हफ़्ते के बाद रफ़ीक का पत्र जापान से आया—

"प्यारे राजेन्द्र,

सो जिस घड़ी का ख़तरा था वह आ पहुँची। हिन्दुस्तान का बँटवारा हो गया, पाकिस्तान कायम हो गया।। फ़ौज का भी बँटवारा हो रहा है। मुझसे पूछा गया है कि मैं हिन्दुस्तान में रहना चाहता हूँ या पाकिस्तान जाना चाहता हूँ। मैं मुसलमान हूँ। इसलिए मुझसे आशा की जाती है कि मैं पाकिस्तान-फ़ौज में शामिल हो जाऊँ। लेकिन फिर सोचता हूँ कि तुम्हारा साथ छूट जायगा। उधर माँ-बाप का ख़याल है जो बूढ़े हो चुके हैं और इस उम्र में चाहते हैं कि मैं उनके पास ही रहूँ। तुम सलाह दो कि क्या करूँ...?"

राजेन्द्र रफ़ीक की मानसिक उलझन समझता था। उसने जवाब लिखा—

"जी तो मेरा यही चाहता है कि तुम हिन्दुस्तान में ही रहो, पर मेरे विचार में पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों का भला इसमें है कि तुम्हारे जैसे अच्छे अफ़सर पाकिस्तानी फ़ौज में रहें। देखने में दो अलग-अलग देशों में रह कर भी हमारी दोस्ती और प्रेम बना रहा तो शायद इसी तरह हिन्दुस्तान और पाकिस्तान भी दोस्त रह सकें। कौन जानता है, दोनों फ़ौजों

को किसी दिन एक होकर किसी तीसरे दुश्मन के खिलाफ़ लड़ना पड़े·····उस दिन वाली बात याद है न ? दिल्ली स्टेशन का रिफ़्रेशमेंट-रूम·····।"

पन्द्रह अगस्त। आज़ादी का दिन। किन्तु राजेन्द्र अपने माता-पिता की ओर से चिन्तित था, क्योंकि सारे पंजाब में मार-काट का बाज़ार गर्म था। न जाने उन पर रावलपिण्डी में क्या बीत रही थी। फिर भी थोड़ा सन्तोष था कि रफ़ीक के बाप सूबेदार मेजर साहब उन पर कोई आँच न आने देंगे। दर्जनों तार दिये मगर कोई जवाब न आया। जानने वाले फ़ौजी अफ़सरों को, जो वहाँ नियुक्त थे, लिखा कि किसी तरह उसके घरवालों को वहाँ से सकुशल निकाल कर दिल्ली या हिन्दुस्तान के किसी शहर में हवाई जहाज़ द्वारा भेज दिया जाय। जवाब आया कि तुम्हारे घरवालों को दिल्ली भेज दिया गया है। छुट्टी लेकर घर पहुँचा और पता चलाकर मिला। माँ बेटे को गले से लगा कर फूट-फूट कर रोने लगी। राजेन्द्र ने पूछा—"और पिताजी ? पिताजी कहाँ हैं ?" तब मालूम हुआ कि डाक्टर साहब एक दंगाई के छुरे का शिकार हो चुके थे।

राजेन्द्र की आँखों में खून उतर आया—"और रफ़ीक के बाप सूबेदार मेजर साहब ? उन्होंने पिताजी को बचाने के लिए कुछ नहीं किया ?"

माँ ने धीरे से समझाया—"बेटा, उन्होंने बहुत कुछ दौड़-धूप की। हमारी जान और लाज को उन्होंने ही बचाया। पर जब तेरे पिता पर हमला हुआ, उस समय उन्हें आने में एक मिनट की देर हो गयी···"

"पर क्यों ?" राजेन्द्र दुःख और क्रोध से चिल्लाया।

"वह बूढ़े आदमी हैं बेटा ! सूझ भी कम पड़ता है। उस अहाते वाली दीवार को जल्दी फलाँग न सके।"

वह दीवार ! वह ज़ालिम दीवार ! वह हत्यारी दीवार ! राजेन्द्र की इच्छा हुई कि तुरन्त जाकर उस दीवार की एक-एक ईंट उखाड़ डाले। पर वह रावलपिंडी से बहुत दूर था—बहुत दूर ! और रास्ते में उससे भी ऊँची, न दिखायी पड़ने वाली दीवार खड़ी थी।

उसने कोशिश करके अपनी बदली दिल्ली करा ली जिससे माँ के पास रह सके।

कराची से एक तार पूना होता हुआ आया—"मैं जापान से लौट आया हूँ। अपने घरवालों की ख़बर दो और जालन्धर जाकर अपनी भावज और उसके घरवालों को बचाओ और यहाँ भिजवा दो।

—रफ़ीक"

राजेन्द्र का पुराना बर्मा वाला ब्रिगेडियर जालन्धर में था। वह उसके पास गया और जीप लेकर रफ़ीक की ससुराल पहुँचा। लेकिन घर में पश्चिमी पंजाब से आये हुए हिन्दू-सिख शरणार्थी ठहरे हुए थे। सारे शहर में कोई मुसलमान बाकी नहीं था। पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि वे लोग सब एक काफ़िले के साथ पाकिस्तान चले गये हैं। यही सूचना उसने रफ़ीक को भेज दी। उसको आशा थी कि वे लोग सकुशल पहुँच गये होंगे।

किन्तु कुछ दिनों के बाद रफ़ीक का पत्र मिला। कुछ लाइनें जल्दी में घसीटी हुई थीं—"तुम्हारी भावज पाकिस्तान नहीं पहुँच सकी। न जाने ज़िन्दा है या मारी गयी। दुआ करो कि ज़िन्दा न हो। तुम पहले ही बिछुड़ गये। अब ज़िन्दगी में मेरे लिए कोई दिलचस्पी बाकी नहीं रही। सिर्फ़ पुरानी यादें बाकी हैं। तुम भी कभी याद कर लिया करना। यह शायद मेरा आख़िरी ख़त हो।"

अगले दिन अख़बारों में ख़बर छपी कि पाकिस्तान की तरफ़ से कबायली हमलावरों ने काश्मीर पर हमला कर दिया है। और न जाने क्यों रफ़ीक से किया हुआ वादा राजेन्द्र को याद आया कि काश्मीर जायेंगे तो दोनों साथ ही। हफ़्ते भर के बाद राजेन्द्र की रेजीमेंट भी काश्मीर भेज दी गयी।

राजेन्द्र बर्मा और आसाम की सीमा पर बड़ी दिलेरी से लड़ा था, किन्तु उस जंग से उसे या दूसरे हिन्दुस्तानी अफ़सरों को कोई ख़ास दिली लगाव नहीं था। सिर्फ़ यही लगन थी कि किसी तरह अपनी बहादुरी या होशियारी से दुनिया पर साबित कर दें कि हिन्दुस्तानी फ़ौजी अफ़सर दुनिया में किसी से कम नहीं हैं। किन्तु काश्मीर आकर जब राजेन्द्र ने काश्मीरी जनता में साम्प्रदायिक एकता को देखा, उनकी राष्ट्रीय सरकार के प्रगतिशील युवकों से मिला तो उसे ऐसा लगा कि यह युद्ध वह बड़े ऊँचे सिद्धान्तों के लिए लड़ रहा है। आज़ादी, प्रजासत्ता और एकता के लिए। कभी उसे ऐसा लगता कि वे सब मिलकर उस ऊँची किन्तु दिखायी न देने वाली दीवार को ढाने का यत्न कर रहे हैं, जो नफ़रत और साम्प्रदायिक विद्वेष की बुनियादों पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच खड़ी की गयी है।

पट्टन। बारामूला। महोरा। उरी। टिटवाल। बाँदापुरी। गुरेज।

हिन्दुस्तानी सेनाएँ बढ़ती जा रही थीं और वह दीवार पीछे हटती जा रही थी। राजेन्द्र प्रत्येक मोर्चे पर ऐसी बेजिगरी से लड़ा कि बहुत जल्द मेजर से लेफ्टिनेण्ट बना दिया गया। आज वह गुरेज की घाटी में न केवल हिन्दुस्तानी फ़ौज का कमांडिंग अफ़सर था बल्कि गुरेज की काश्मीरी जनता में भी अत्यधिक लोकप्रिय था। उसका

काफ़ी समय उन सबकी देख-भाल में बीतता। उनकी सेवा करके, उनसे दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित करके न जाने क्यों उसे ऐसा अनुभव होता कि वह उस नफ़रत की दीवार को ढाने में सफल हो रहा है, जो उसके और रफ़ीक के घरों के बीच खड़ी हो गयी थी। बहुत जल्द यह दीवार टूट जायगी और बहुत जल्द दोनों मित्र एक बार फिर गले मिल जायेंगे।

राजेन्द्र और रफ़ीक, रफ़ीक और राजेन्द्र।

राजेन्द्र को यह तो ज्ञात था कि हमलावरों के साथ बहुत से पाकिस्तानी सेना के अफ़सर और सिपाही हैं। वह हर प्रकार के हथियारों से लैस थे और सैनिक टुकड़ियों में संगठित होकर लड़ रहे थे। गुरेज की घाटी से उनको भगा दिया गया था, किन्तु वे अधिक दूर नहीं गये थे। उसको जो सूचनाएँ मिली थीं, उनके अनुसार उनका एक गिरोह पूर्व में हब्बा खातून नाम की पहाड़ी के पीछे था और दूसरा गिरोह पश्चिम में किशन गंगा के पार। दोनों ओर से सैनिक गति-विधि की सूचनाएँ आ रही थीं। राजेन्द्र ने दोनों ओर अपनी पहाड़ी चौकियों को सचेत कर दिया था। रात-दिन वे दुश्मन की ताक में रहते थे। नामुमकिन था कि हमलावर गुरेज की घाटी पर फिर से कब्ज़ा करने के लिए एक कदम भी उठा सकें।

और फिर एक रात अचानक उत्तर की ओर एक तेरह हज़ार फ़ुट ऊँची पहाड़ी पर से हमलावरों की एक टुकड़ी ने आक्रमण कर दिया। रात भर उसे स्वयं अपने सिपाहियों का हाथ बटाना पड़ा और कुछ घंटों के लिए तो वे सारे ही ख़तरे में पड़ गये। हमलावरों को तो पीछे हटा दिया गया मगर राजेन्द्र के कितने ही आदमी काम आये। रक्षा पंक्तियों का सारा नक्शा बदलना पड़ा और राजेन्द्र सोच

में पड़ गया कि उत्तर से यह आक्रमण हुआ कैसे, जब कि वे समझ रहे थे कि आक्रमण या तो पूर्व से होगा या पश्चिम से·····

सहसा उसके मस्तिष्क में याद की एक किरण चमकी और उसने अपना सूटकेस खोलकर एक किताब निकाली जो कपड़ों के नीचे रखी थी। पन्ने उलटने पर ये शब्द उसकी आँखों के सामने थे—

"आधी जीत तो इसी में है कि शत्रु को अचम्भे में डाल दिया जाय। उसे यह न ज्ञात हो सके कि तुम्हारी अगली गति-विधि क्या और किधर होगी। वह यह सोचता ही रहे कि आक्रमण पूर्व से होगा या पश्चिम से, और इस बीच तुम्हारा आक्रमण उत्तर से हो जाये..."

रफ़ीक !

सिवाय रफ़ीक के यह किसी और का काम नहीं था।

सो रफ़ीक आज उसका दुश्मन था। कुछ ही दिनों में इसकी पुष्टि हो गयी। राजेन्द्र का एक कैप्टन दौड़ता हुआ उसके कमरे में आया और बोला—"जनाब, हमारे वायरलेस की लाइन दुश्मन के वायरलेस से मिल गयी है। उनका अफ़सर आपसे बात करना चाहता है..... कोई मेजर रफ़ीक.....!

अभी उसने वाक्य पूरा नहीं किया था कि राजेन्द्र दौड़कर वायरलेस के कमरे में पहुँच गया।

"हेलो, हेलो, रफ़ीक ! ओवर।"

यह कहकर उसने की (Key) घुमा दी कि उधर से आवाज़ आ सके। उधर से एक जानी पहचानी आवाज़ आयी—"क्यों बे

राजेन्द्र, बुज़ुर्गों के मुकाबले में आता है। अभी तो एक ही पैंतरा दिखाया है। होशियार रहना। ओवर।"

"अच्छा तो फिर मुबारकबाद के साथ एक दोस्ताना तोहफ़ा कबूल करो।" अभी रफीक ने ओवर भी नहीं कहा था कि दूर से एक हलके से धमाके की आवाज आयी और उसके चन्द सैकंड के बाद उनसे कोई सौ गज़ पर उत्तर-पूर्व की ओर एक पच्चीस पौंड का गोला गिर कर फटा।

राजेन्द्र वायरलेस पर बोला—"अपने तोपची को निशाना तो सिखा पहले। ओवर।"

रफ़ीक की आवाज़ आयी—"निशाना ठीक था। तुम से सौ गज़ उत्तर-पूर्व का तरफ़ गिरा है न! जा माफ़ किया। तेरी बीवी का ख़याल आ गया। बेवा हो जायगी बेचारी।" एक जानी-पहचानी हँसी की आवाज़ "ओवर" के साथ सुनायी दी और फिर वायरलेस का सिलसिला टूट गया।

रफ़ीक की आवाज़, उसके दोस्त की आवाज़—मगर नहीं, वह उसका दोस्त नहीं हो सकता। उसका दोस्त अपने सिपाहियों को इस मार-काट और विनाश की कभी अनुमति न देता, जो उन्होंने अपने कब्ज़े के दिनों में गुरेज की घाटियों में किया था और इसके बाद भी कुछ ही दिन हुए चौरावन गाँव में सैकड़ों घर फूँककर उनको बेघर कर दिया था। नहीं, यह उसका दोस्त रफ़ीक नहीं हो सकता।

और कुछ रातों के बाद जब उसने रफ़ीक के हेड-क्वार्टर पर रात को हमला करने के लिए अपने छः आदमी भेजे तो उसे ज़रा भी हिचकिचाहट न हुई। उसे दुश्मन को इस पहाड़ी से ज़रूर हटाना था, नहीं तो उसकी और उसके सिपाहियों की ही नहीं, गुरेज के प्रत्येक

निवासी की जान ख़तरे में थी क्योंकि वहाँ से ही दुश्मन की हल्की तोपें दिन-भर लगातार गोले बरसा रही थीं।

रात भर हमला सफल रहा था। रफ़ीक मारा गया था। उसने अपने किये का फल पाया था। युद्ध में भावुकता का क्या काम? यदि तुम चूक गये तो मारे गये। उसे रफ़ीक की मृत्यु का कोई दुःख न होना चाहिए, किन्तु उसे दुःख था क्योंकि वह एक दोस्त की ही मौत नहीं थी, दोस्ती की मौत थी, बचपन और जवानी की सुखद यादों की मौत थी, एकता की याद थी। रफ़ीक की मृत्यु के बाद राजेन्द्र को ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो अब कोई हिन्दू और मुसलमान आपस में कभी दोस्त न बन सकेंगे। और इस भाव ने उसके हृदय में एक विचित्र शून्य-सा पैदा कर दिया था। क्या यह कभी पूरा न हो सकेगा? रफ़ीक के बिना राजेन्द्र का अस्तित्व, उसका जीवन अधूरा था। राजेन्द्र का हृदय एक अथाह निराशा के सागर में धीरे-धीरे डूबता जा रहा था।

"जनाब!"

एक आवाज़ ने उसे चौंका दिया। डूबने से बचा लिया।

"जनाब!"

ख़ाकी वर्दी पहने हुए एक नौजवान उसे फ़ौजी सलाम कर रहा था। अवश्य ही यह भी अब "मेजर रफ़ीक मारा गया" कहकर उसको चिढ़ायेगा।

"क्या है?" राजेन्द्र ने फिर 'लेफ्टिनेंट कर्नल राजेन्द्र' बनते हुए तनिक कठोरता से पूछा।

"जनाब! मैं मिलीशिया के हेडक्वार्टर से भेजा गया हूँ। गुरेज में मिलीशिया का एक जत्था बनाने के लिए।"

"मिलीशिया ?"

"जी जनाब, काश्मीर नैशनल मिलीशिया।" नौजवान की आवाज़ में एक अजीब जोश था, एक अजीब बेचैनी। "यहाँ के गाँव वाले अपना एक हिफ़ाज़ती दस्ता बनाना चाहते हैं.....।"

"हाँ हाँ, मैं समझा। तुम्हारा नाम क्या है ?"

"जनाब, मेरा नाम है रफ़ीक।"

"क्या नाम बताया तुमने ?"

"रफ़ीक। मुहम्द रफ़ीक। मैं जनाब श्रीनगर कालेज में पढ़ता था ....."

नौजवान उसे बता रहा था कि उसका बाप शाल पर कढ़ाई का काम करता था और नैशनल कान्फ़रेंस का पुराना कार्यकर्ता था। उसका बाप दो बार जेल जा चुका था। बड़ी कठिनाई से उसका बाप उसे कालेज में भेजने का खर्च उठा सका था। किन्तु कबायली हमले के बाद वह कालेज की पढ़ाई छोड़कर मिलीशिया में भर्ती हो गया था। तीन बार मोर्चे पर लड़ चुका था। एक बार घायल भी हुआ था.....

किन्तु राजेन्द्र के दिमाग़ में कोई और ही आवाज़ गूँज रही थी। मानो वह कह रहा हो—

"मैं रफ़ीक हूँ, रफ़ीक। सूबेदार मेजर शफी मुहम्मद खाँ का बेटा—तुम्हारा दोस्त—तुम्हारा बचपन का साथी...याद है जब मुझे खाँसी होती थी तब तुम अपने पिता जी से मेरे लिए मीठी-मीठी चूसने की गोलियाँ लाया करते थे.....याद है हम रावलपिंडी में क्रिकेट खेला करते थे। तुम बड़े अच्छे बाउलर थे और मैं बैटिंग में

फ़र्स्ट.....लेकिन अगर मैं हर मैच में सेन्चुरी न बनाता तो तुम्हारी बाउलिंग किस काम आती ?.....फिर वह देहरादून एकेडमी का ज़माना याद है ?.....और वह मेरी शादी ?.....शादी के कपड़ों में मैं कैसा बुद्धू लगता था ? और कितनी हँसी हुई थी जब तुमने अपनी भावज का मुँह देखकर कहा था—बेचारी बच्ची ! अफ़सोस है ! तेरी किस्मत भी किस जांगलू से फोड़ी गयी . ..." पर यार, मुझे अफ़सोस है, मैं तुम्हारी शादी में न आ सका, नहीं तो पूर बदला उतारता और भाभी को खूब-खूब छड़ता.....और देहली के रिफ्रेशमेंट-रूम की घटना याद है ?.....बहुत पी गये थे उस दिन हम...कितनी धमा-चौकड़ी मची थी। मगर असल में उस लाल मुँह वाले अँग्रेज़ को देखकर गुस्सा आ गया था...साला !...उसका बस चलता तो हम दोनों की शराब भी अलग-अलग 'हिन्दू मुसलमान' बोतलों से मिलती...और वह मेरी किताब तो मिल गयी होगी...कितनी बार वादा किया था कि दोनों अपनी-अपनी बीवियों को साथ लेकर काश्मीर चलेंगे। और तुम आये भी तो अकेले। बीवी को साथ क्यों नहीं लाये ? मैं तो ज़रूर लाता...पर तुम जानते हो...!"

वह काश्मीरी नौजवान बोले जा रहा था—"जनाब, हमें यकीन है कि आप बहादुर अफ़सरों से हम बहुत कुछ सीख सकेंगे और काश्मीर अपनी नैशनल जम्हूरी फ़ौज बनायगा..."और उसके आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब लेफ्टिनेन्ट कर्नल ने खड़े होकर निहायत तपाक से एक साधारण लेफ्टिनेन्ट से हाथ मिलाते हुए कहा -"वह सब हो जायगा। मगर यह बताओ कि तुम कालेज में क्रिकेट में कैसे थे ?"

अवध की शाम

उसने कहा—"अब्बास साहब, विश्वास कीजिए, मैंने ढाई वर्ष से चक्खी भी नहीं है। पर खैर, आज आपकी खातिर..." और बैरे को आवाज़ देकर बुलाया।

"एक बड़ा पेग ले आओ।...हाँ, हाँ, वही अँगरेज़ी ह्विस्की का।...और क्या देशी ? ?" और मुझे सम्बोधित कर कहा—"और आप क्या पियेंगे ?"

"लेमन स्क्वाश।"

"लाहौल विलाकूवत ! आप तो बिलकुल ज़ाहिदे-खुश्क निकले ! खैर, आपकी मरज़ी।" और फिर बैरे को हुक्म देने के बाद, सिगरेट सुलगाते हुए कहा—"आप नहीं पीते, अच्छा ही करते हैं। एक बार आदत पड़ जाय तो 'छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई।'

मेरा ही जिगर था कि दस बरस पीने के बाद एक दम छोड़ दी। पूरे ढाई साल हो गये।"

बैरे ने गिलास सामने लाकर रक्खा, और सोडा डालने लगा।

"बस-बस। सोडा नहीं चाहिए। जाओ तुम।" और फिर घूँट लेकर कहा—हाँ, तो मैं क्या कह रहा था? ओह खूब याद आया। ढाई बरस बीत गये, और एक घूँट भी नहीं चक्खा, 'नाट टच्ड ए सिंगल ब्लडी ड्राप!" माफ़ कीजिएगा, बोल-चाल में अँगरेज़ी मुहावरे इस्तेमाल करने की बुरी आदत पड़ गयी है। बात यह है कि मैं ज़रा इंगलिश स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ।"

उसके एक हाथ में ह्विस्की का गिलास था, दूसरे में ब्लैक ऐन्ड ह्वाइट का सिगरेट। और मैंने देखा कि दोनों हाथ नशे के कारण हल्के-हल्के काँप रहे हैं, और काँपता हुआ हाथ मुँह से गिलास हटाता है, तो दूसरा हाथ सिगरेट को मुँह की ओर ले जाता है। और ऐसा लग रहा था कि जैसे तरल अग्नि गले में उतरती-उतरती धुआँ बनती जा रही हो। वह सिगरेट के धुएँ से इस प्रकार खेल रहा था, जैसे कोई सरकस का मदारी लोहे के छल्लों या रस्सी के गोल घेरे से निकलता है। कभी नाक से धुएँ की पिचकारी छूटती, कभी मुँह को गोल करके धुएँ के छल्ले छोड़े जाते। और जब ये छल्ले एक दूसरे से मिलकर एक लम्बी धुएँ की ज़ंजीर बन जाते तो उसे देखकर वह अपने कमाल पर आप-ही-आप गर्व करता-सा मुस्कराता।

वह लखनऊ के एक बड़े ताल्लुकेदार का मँझला बेटा था और उससे मेरी मुलाकात उसी दिन हुई थी। मिलते ही उसने कहा था—"आप...आप ही हैं अब्बास साहब, जिन्होंने वह

किताबें लिखी हैं। मुझे तो बड़ी मुद्दत से आपकी तलाश थी। आज मैं आपको नहीं छोड़ूँगा। मुझे आपसे बहुत सी बातें करनी हैं।" और फिर मुझे कमरे के दूसरे कोने में ले जाकर बोला—"भाई साहब सुनेंगे तो मेरा मज़ाक उड़ायेंगे। दरअसल मुझे चन्द साहित्यिक मामलों में आपकी सलाह दरकार है। और आपके सिवा मुझे कोई दूसरा नज़र नहीं आता, जो मुझे सही रास्ते पर लगा सके। मेरे भावी जीवन का दारमदार आप ही की सलाह पर है।"

उसके बहनोई का भाई मेरा दोस्त है, इसलिए इनकार करना कठिन हो गया और मैंने उसकी दावत स्वीकार कर ली कि शाम एक साथ बितायेंगे। मैंने सोचा, 'आज इस नौजवान ताल्लुकेदार की संगत में यह भी देख लिया जाय कि अवध की शाम कितनी रंगीन है।'

और अवध की शाम शुरू हुई 'चीना बार' से।

हज़रतगंज में रोशनियाँ जगमगा रही थीं। रेशमी साड़ियाँ झिलमिला रही थीं। सुन्दर मुखड़ों की मानो नुमायश हो रही थी। काफ़ी हाउस में विद्यार्थियों, कवियों, पत्रकारों का मजमा था। एक सिनेमा के सामने खेल-कूद के शौकीन ओलम्पिक का फ़िल्म देखने के लिए बेचैन थे। एक दूसरे सिनेमा में एक रूसी फिल्म 'ट्राम्फ़ आफ़ यूथ' दिखाया जा रहा था। युगल जोड़ियाँ नुक्ताचीन निगाहों से बचकर, मेफ़ेयर रेस्तराँ में आनन्द के कुछ क्षण बिताने जा रही थीं। अमीनाबाद में कंधे से कंधा छिलता था। दीवाली की रंग-बिरंगी मिठाइयों से हलवाइयों की दुकानें सजी हुई थीं। बच्चे खिलौनों की दुकानों पर भीड़ लगाये थे। लेकिन मेरे नये दोस्त की कृपा से मेरी अवध की शाम की शुरूआत एक तंग और अँधेरे

ह्विस्की और बियर की गंध में बसे हुए बार से हुई।

"अब्बास साहब, एक बात बताइए।"

"कहिए।"

"मेरे चेहरे को ग़ौर से देखकर अन्दाज़ा लगाइए कि मेरी उम्र कितनी है।"

मैंने ध्यान से देखा। वह अच्छा-ख़ासा सुन्दर जवान था। गोरा रंग, फ़िल्म-स्टारों जैसी पतली मूँछें; घुँघराले बाल, अच्छा नख-शिख, लेकिन आँखों के गिर्द हलके काले, दाहिने हाथ की दो उँगलियाँ सिगरेट के धुएँ से सियाही लिये हुए पीली। मैंने ऐसे ही अललटप जवाब दिया—"कोई अट्ठाईस बरस।"

"देखा, आप भी धोखा खा गये न! मेरी उम्र सिर्फ़ चौबीस साल है। पिछले साल ही तो बी० ए० का इम्तहान दिया है। हमारे इम्तहान का भी अजब क़िस्सा है जनाब। एक्नामिक्स में हम फ़ेल, पर अँगरेज़ी में फ़र्स्ट नम्बर। जिस प्रोफ़ेसर के पास अँगरेज़ी का पर्चा था, वह खुद अँगरेज़। मेरी कापी देखकर उस अँगरेज़ ने वाइस चांसलर से कहा, "मैं इस लड़के का लिखा हुआ मज़मून विलायत के किसी मैगज़ीन में छपने के लिए भेजना चाहता हूँ, जिसमें कि वहाँ के लड़के देखें कि हिन्दुस्तानी विद्यार्थी कितनी अच्छी अँगरेज़ी लिख सकते हैं। अब आप सोचेंगे कि इस नाचीज़ को इतनी अच्छी अँगरेज़ी लिखनी कहाँ से आ गयी। तो बात यह है, अब्बास साहब, कि मैं अँगरेज़ी स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ न।"

पहला पेग ख़त्म हो चुका था। बैरे ने पूछना अनावश्यक समझा, दूसरा पेग गिलास में डाला और पास ही सोडे की बोतल रखकर चला गया।

दूसरे पेग का पहला घूँट चढ़ाते हुए उसने कहा—"देखा आपने, पूछा भी नहीं और पेग डाल गया। हालाँकि मैं सिर्फ़ एक ही पेग पीने के इरादे से आया था, और वह भी आपकी ख़ातिर। दरअसल मैंने तो पीना छोड़ ही दिया है। बुरी बला है। अच्छे-ख़ासे आदमी को पागल बना देती है। डोरीन कहा करती थी 'नवाब डार्लिङ्ग ····' स्कूल में सब मुझे नवाब, नवाब ही कहते थे····· हाँ, तो डोरीन कहा करती, 'नवाब डार्लिङ्ग, तुम पहला पेग पीते हो, तो बड़े सुन्दर दिखायी पड़ते हो। जब दूसरा पेग पी लेते हो, तो बड़े ख़ूंख़्वार नज़र आते हो। और जब तीसरा पेग पी लेते हो, तो बिलकुल उल्लू मालूम होते हो। इसलिए बस तुम एक ही पेग पिया करो।' अजीब लड़की थी वह भी। मुझे कभी 'फ़ेयरी प्रिन्स'—आप मतलब समझे न?—परियों का राजकुमार भी कहा करती थी। और मैं उसे कहता—'माई स्वीट सिंड्रिला।' वह ज़रा ग़रीब लड़की थी, एक ऐंग्लो-इंडियन इंजन ड्राइवर की बेटी। नैनीताल में हमारे स्कूल के पास ही लड़कियों का कान्वेन्ट था। वहाँ वह पढ़ती थी। मैं उस वक्त कोई चौदह या पन्द्रह वर्ष का था, और वह शायद सोलह वर्ष की। एक रात को डान्स में मुलाकात हो गयी। न जाने क्यों, पहली मुलाकात में ही वह मेरी तरफ़ खिंची चली आयी। न जाने मुझमें क्या आकर्षण शक्ति थी? अब्बास साहब, ईमान से बताइएगा, मुझमें क्या ऐसा कोई आकर्षण है कि लड़कियाँ हमेशा खिंची ही चली आयें?"

मैंने कहा—"शायद आपके रुपये में कोई आकर्षण हो।"

"आप सच कहते हैं। ये ऐंग्लो-इंडियन लड़कियाँ होती ही हैं पैसे की लोभी। लेकिन आप विश्वास कीजिए, डोरीन ऐसी नहीं थी। उसे मुझसे सच्चा प्रेम था।"

"और आपको ?"

"मैं तो बच्चा था बिलकुल। प्रेम-व्रेम जानता ही न था। ख़ैर, अब उस बेचारी का क्या ज़िक्र ! तीन साल हुए, उसकी शादी एक पुलीस सार्जेन्ट से हो गयी। पर अब भी हर साल क्रिसमस कार्ड ज़रूर भेजती है। और जानते हैं, उस पर क्या लिखा होता है ? लिखा होता है—"टू माई फ़ेयरी प्रिन्स।"

दूसरा पेग कभी का ख़त्म हो चुका था। उसने एक नजर ख़ाली गिलास पर डाली और फिर चिल्लाया—"ब्वाय ! ब्वाय" !

जब बैरा भागा हुआ आया, तो उसे डाँटा—"अन्धे हो ? देखते नहीं, गिलास कब से खाली पड़ा हुआ है ?

बैरा भाग कर ह्विस्की की बोतल लाया। एक पेग उँडेला। सोडा डालने लगा, तो "बस, बस" कह कर रोक दिया गया।

"अब्बास साहब, अच्छा करते हैं आप कि नहीं पीते। मगर कभी पीने-पिलाने का शौक करें, तो एक बात याद रखिएगा कि अगर आप चाहते हैं कि सुरूर हो पर नशा न चढ़े और अगले दिन 'हैंग ओवर' न हो, तो ह्विस्की में ज़्यादा सोडा कभी न डालिएगा। नशा दरअसल ह्विस्की से नहीं, इस कमबख्त सोडे से होता है। यह नुस्ख़ा, खुदा बख्शे, हमारे चचा जान मरहूम ने बताया था। पहली बार शराब भी उन्होंने ही पिलायी। मैं उस वक्त बारह बरस का था। शराब का नाम सुना था, पर कभी चक्खी न थी। चचा जान किबला यानी नवाब साहब सकरामपुर—आपने नाम जरूर सुना होगा—हाँ, तो उनके यहाँ जलसा था। दर्जनों तवायफ़ें बुलवायी गयी थीं। सारे महल में धमाचौकड़ी मची हुई थी। मुन्नी तवायफ़ उन दिनों बड़ी मशहूर थी। वह नवाब साहब के सामने नाच रही थी और दो बाँदियाँ

बारी-बारी से उन्हें जाम भर-भर कर दे रही थीं। हम लड़के छिपकर तमाशा देख रहे थे। लेकिन वह कमबख़्त मुन्नी अपनी भड़कीली पेशवाज में ऐसी भली लगी कि मैं बेख़याली में दरवाज़े में से अन्दर आ गया ताकि उसे नाचते हुए अच्छी तरह देख सकूँ। शामत जो आयी, तो नवाब साहब की नज़र मुझ पर पड़ गयी। वहीं से आवाज़ दी—"मुन्नन बेटा! यहाँ आओ।" घर में सब मुझे मुन्नन ही कहते हैं। हाँ, तो उन्होंने आवाज़ दी, तो मुझे जाना ही पड़ा। दिल-ही-दिल में डरता-काँपता उनके पास पहुँचा, तो जाम मेरी तरफ़ बढ़ा कर बोले—"लो, पियो!" मेरी झिझक देखकर सब हँस पड़े। मुन्नी भी गाना बन्द करके हँसने लगी। बोली—"नवाब साहब, इजाज़त हो, तो छोटे मियाँ को मैं अपने हाथ से पिलाऊँ?" नवाब साहब ने इशारा किया, तो मुन्नी ने अपने हाथों से एक पेग उँडेला। उसमें सोडा उँडेल ही रही थी कि नवाब साहब ने रोक दिया, "बस-बस, ज़्यादा सोडे से नशा चढ़ जाता है। ले ले, मुन्नन! बहादुर है तू। अल्लाह का नाम लेकर पी जा। और यह बात गिरह में बाँध ले कि जितनी ह्विस्की हो, सोडा उससे ज़्यादा न हो तो कभी नशा न होगा। और मुन्नी ने मेरी तरफ़ जाम बढ़ा कर बड़े प्यार से कहा—"ले, बेटा, पहला जाम मुबारक हो!" मैं चारों तरफ़ से घिरा हुआ था। अब तो कोई चारा ही नहीं था। आँख बन्द करके गट-गट पी गया।"

"फिर क्या हुआ?" मैंने पूछा।

कुछ क्षणों के लिए वह चुप रहा। कोई जवाब न दिया। पर उसके मुँह से सिगरेट के धुएँ से छल्ले निकलते रहे और एक-दूसरे से मिलकर एक ज़ंजीर-सी बनाते रहे, और वह चुपचाप बैठा ऐसे

घूरता रहा मानो वह उस धुएँ की ज़ंजीर में बँधा हुआ हो और उससे छुटकारा पाना उसके लिए असम्भव हो।

सिगरेट को ऐश-ट्रे में डाल कर, जहाँ पहले ही अनगिनत सिगरेटों की लाशें पड़ी पानी में गल रही थीं, वह दूसरा सिगरेट जलाना भूल गया और उसकी नज़र गिलास की तरफ़ भी न गयी जो ख़ाली रक्खा हुआ चौथे पेग की राह देख रहा था। धुएँ की ज़ंजीर टूटकर एक धुँधला-सा गुबार कमरे में छा गया और उसकी आवाज़ जैसे उस धुंध की तह में से आयी—"अब्बास साहब, यह सब सुनकर आप ज़रूर मुझसे, मेरे ख़ानदान से बल्कि तमाम ताल्लुकेदारी निज़ाम से नफ़रत कर रहे होंगे।"

मैं कहना चाहता था कि रोगियों से कोई नफ़रत नहीं किया करता, चाहे वे कैसे भी घृणित रोग में ग्रस्त हों, विशेषकर ऐसे रोगियों से, जो मरने के करीब हों। पर वह बोलता गया।

"और सचमुच हम हैं भी नफ़रत के काबिल। आख़िर हमें क्या हक़ है ज़िन्दा रहने का? हम समाज की जोंकें हैं, जोंकें। हम खून चूसते हैं। मैंने खुद अपनी रियासत में अपनी आँखों से देखा है कि ताल्लुकदार कितने जुल्म करते हैं किसानों पर। मैं पूछता हूँ, हमारी ऐयाशियों के लिए कहाँ से रुपया आता है? हमारे संगमर्मर के महलों के लिए, हमारे बढ़िया कपड़ों के लिए, नाच-रंग, तवायफ़ों, शराब ..."

प्रश्न चिन्ह उसके ओंठों पर बना-का-बना रह गया, जैसे ही उस की नज़र गिलास पर पड़ी, जो ख़ाली था और कब से चौथे पेग की राह देख रहा था।

"ब्याय!" सारे बार में उसका उच्च स्वर गूँज गया।

एक नया सिगरेट जलाकर धुएँ की ज़ंजीर को अपने गिर्द

फैलाते हुए वह बोला—"अब्बास साहब, इस नापाक वातावरण से आप ही मुझे निकाल सकते हैं, सिर्फ़ आप। मैं घर-बार, ताल्लुकेदारी, जमींदारी, सब-कुछ छोड़कर बम्बई आना चाहता हूँ और जर्नलिज़्म से रोज़ी कमाना चाहता हूँ। न जाने क्यों, मैं समझता हूँ कि मुझमें एक अच्छा जर्नलिस्ट बनने के 'जर्म्स' मौजूद हैं। आप इसे शायद शेखी या अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना कहें, लेकिन मेरा ख़याल है कि कम-से-कम यू० पी० में बहुत थोड़े लोग हैं, जो मुझसे अच्छी अँगरेज़ी लिख सकते हैं। 'पानियर' तो आप ज़रूर पढ़ते होंगे?"

मैंने कहा—" 'पानियर' बम्बई में नहीं पहुँचता।"

उसने चौथे पेग का दूसरा घूँट पीते हुए कहा—"तभी तो आप मेरा नाम न सुन सके, नहीं तो सन् पैंतालीस-छियालीस में कोई दिन नहीं छूटता था, जब मेरा आर्टीकल 'पानियर' में न छपता हो। एडीटर के नाम ख़त होते हैं न, बस उसी कालम में रोज़ मेरा आर्टिकल धरा रहता था। केली साहब—आप तो जानते होंगे—'पानियर' के एडीटर थे पार साल तक। बड़ा शरीफ़ अँगरेज़ था, साहब।...हाँ, तो केली साहब बड़ी तारीफ़ करते थे मेरी लिखाई की। कहते थे, 'बड़ा मँजा हुआ स्टाइल है तुम्हारा।' बात यह है, अब्बास साहब, कि अँगरेज़ी मैं ज़रा अच्छी लिख लेता हूँ। इंगलिश स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ न!"

मैंने पूछा—"आम तौर से किन-किन विषयों पर ख़त···मेरा मतलब है, मज़मून लिखते थे आप?"

"एक हो तो बताऊँ। चीन, जापान, पेलेस्टाइन, लीग आफ़ नेशंज़, ज़मींदारी-बिल, शरीअत बिल, हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी, ऐटम बम—कोई भी सबजेक्ट दे दीजिए, चार-पाँच घंटे में मज़मून

तैयार ले लीजिए। मैं आपको अपने आर्टिकिल्स की फ़ाइल दिखाऊँगा। मुझे यकीन है कि आप ज़रूर पसन्द करेंगे।"

मैंने कहा—मैं बड़े शौक से आपके मज़मून पढ़ूँगा।"

"मगर, अब्बास साहब, एक बात है। उस ज़माने में मैं बड़ा पक्का मुस्लिम लीगी था। इसलिए उन आर्टिकिल्स के सियासी नुक्त-ए-नज़र को आप पसन्द न करेंगे। लेकिन ज़बान और स्टाइल की दाद ज़रूर देंगे। मैंने खुद लीग-वीग को छोड़-छाड़ दिया है। पाकिस्तान भी कुछ हफ़्तों के लिए गया था। भाई साहब कोई बिज़नेस शुरू करना चाहते थे। मगर हमें कुछ जँचा नहीं, सो वापस चला आया। पर सच पूछिए तो मेरे ख़यालात में सबसे बड़ा इनक़लाब महात्मा गांधी की कुरबानी से आया है। जिस वक्त उनके कत्ल की खबर आयी है, मैं बिलकुल सन्न हो गया। ऐसा मालूम हुआ, जैसे मेरे साम्प्रदायिक विचारों का महल अड़ाड़ा-धम करके गिर पड़ा हो। क्या शानदार मौत भी थी उनकी, उनकी ज़िन्दगी ही की तरह। अफ़सोस कि ज़िन्दगी में मैंने उनकी कद्र नहीं की। उस दिन से गाँधी जी की लिखी हुई किताबें पढ़ना शुरू कर दीं। जानते हैं, वह किताबें पढ़कर मैं किस नतीजे पर पहुँचा?"

इस बीच न जाने किस समय बैरा पाँचवाँ पेग गिलास में डाल गया था। ह्विस्की में चन्द बूँदें सोडे की डालने के लिए एक क्षण के लिए वह रुका। एक सिगरेट से दूसरा सिगरेट सुलगाया और अपना बयान जारी रक्खा।

"गाँधी जी की तहरीरें पढ़ने के बाद मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे मेरे अँधेरे दिमाग़ में एकदम रोशनी हो गयी हो। मैंने सोचा कि इस दुनिया में बहुत-सी मनहूस ताकतें हैं, साम्राज्य है, पूँजीवाद

है, जुल्म और हिंसा है, जंग और ऐटम बम है, मगर एक ऐसी ताकत भी है, जो इन सब पर भारी है। बताइए वह कौन-सी ताकत है?"

मैंने कहा—"शायद आपका मतलब जनता के एके या इतहाद से है।"

नहीं, नहीं, जिस अटल ताकत की तरफ़ मैं इशारा कर रहा हूँ, वह मुहब्बत की ताकत है। गांधी जी ने मरकर साबित कर दिया, कि सिर्फ़ मुहब्बत ही नफ़रत और हिंसा, साम्राज्य और फ़िरकापरस्ती की ताकतों को जीत सकती है। उस दिन से अगर मैं किसी 'इज्म' का कायल हूँ, तो वह 'मुहब्बतइज्म' है।" और फिर एकाएक मेरी तरफ़ झुककर—"अब्बास साहब एक बात बताइये।"

"कहिये?"

"आपने कभी मुहब्बत की है?"

मैंने स्वीकार किया कि मुझसे यह अपराध हो चुका है।

उसने छठे पेग में बराबर की मात्रा में सोडा मिलाते हुए कहा—"छोड़िए, साहब। आप जैसे जाहिदे-खुश्क ने क्या मुहब्बत की होगी? मुहब्बत हमने की है।"

मैंने कहा—"इसमें क्या शक है।"

"पहले तो, साहब, आप हमारी पहली मुहब्बत की कहानी सुनिए। वह डोरीन वाली नहीं। वह तो यों ही बच्चों का खेल था। यह जुबैदा वाली मुहब्बत तो कुछ और ही खौफ़नाक चीज़ थी। साहब, वह मामला यों हुआ कि मैं जाड़े के मौसम में चन्द हफ़्ते के लिए नयी देहली में ठहरा हुआ था, भाई साहब के एक दोस्त के यहाँ। उनकी एक बड़ी कालीनों की दूकान थी। हमारे यहाँ कालीन उन्हीं के यहाँ से आते थे। इसी तरह दोस्ती भी हो गयी थी। उनकी

दूकान क्नाट प्लेस में थी, मंजूर ऐण्ड कम्पनी। आपने बोर्ड देखा होगा। अब तो खैर, पाकिस्तान चले गये हैं। यह सन् चौवालीस की बात है। दूकान के ऊपर ही उनका फ़्लैट था, जिसमें एक कमरा मुझे दिया गया था। चूँकि ऊपर उनकी वाइफ़ और बेटी रहा करती थीं, इसलिए मैं ज़्यादातर वक्त नीचे दूकान में ही गुज़ारा करता था। एक दिन मंजूर साहब कहीं बाहर गये हुए थे। मैं अकेला ही दूकान पर बैठा था। क्या देखता हूँ कि ऊपर से मेहतरानी चली आ रही है। सीधे मेरे पास आकर कहने लगी, 'मियाँ आपसे कुछ कहना है।' पास दो-चार आदमी और भी बैठे थे। वे हँसने लगे। मैं भी खिसिया गया। आपही सोचिए। आप मेरी जगह होते, तो क्या करते? खैर मैं वहाँ से हटकर उसे अलग ले गया, तो वह कहने लगी—'मियाँ, छोटी साहबज़ादी पर तरस खाइए नहीं तो वह जान दे देंगी।' मैंने कहा—'मैंने क्या जुल्म किया है? मैंने तो उनकी शक्ल भी नहीं देखी।' वह बोली—'यह उनसे पूछिएगा। मेहरबानी करके ऊपर अपने कमरे में तशरीफ़ ले चलिए। उनकी माँ इस वक्त बाहर हैं।' मरता क्या न करता? ऊपर अपने कमरे में पहुँचा, तो वह मौजूद। शायद सोलह-सत्रह बरस की होगी। रंगत जैसे मैदा और गुलाब, नरगिसी आँखें। देखते ही कदमों में गिर पड़ी। बोली—'शादी न कीजिए, लौंडी बनाकर रख लीजिए, मगर अपने से जुदा न कीजिए।' यह सुनकर मैं अचम्भे में पड़ गया। सोचा उसके बाप ने देख लिया, तो खैर नहीं। वह रोये जा रही थी। बड़ी मुश्किल से समझा-बुझा कर उसे चुप कराया। उस दिन से तो, साहब, जब मौका मिलता, वह मेरे कमरे में आ जाती। एक दिन कहने लगी, 'मुझे भगा कर ले चलो।' मैंने कहा, 'मुझमें तो हिम्मत नहीं है।

आप ही मुझे भगा ले चलें, तो काम बने।'.....अब्बास साहब, अब आप बताइए, मेरी सूरत में आखिर ऐसा क्या जादू है कि वह इस तरह लट्टू हो गयी ?"

सवाल का जवाब देने की ज़रूरत न थी। सातवाँ पेग सामने मौजूद था। उसने एक घूँट पीकर बात जारी रक्खी।

मगर कसम ले लीजिए, जो मैंने उसे बुरी निगाह से देखा भी हो, हालाँकि वह थी बड़ी खूबसूरत। जुबैदा नाम था, पर उसे जैबो जैबो, कहते थे। बात यह है कि मैं उसके बाप से डरता था। एक तो पंजाबी, दूसरे बड़े भाई का दोस्त, और तीसरा यह कि बड़ा चार सौ बीस मशहूर था। कोई दस दिन के बाद मेरे कमरे में आयी, तो मुझे कमीज़ उठाकर दिखाया कि कमर पर नीले निशान और घाव पड़े हुए हैं, जहाँ-जहाँ उसके बाप ने कोड़ों से मारा था। .....अब आप ही बताइए, मैं क्या करता ?"

"उससे शादी।"

तौबा कीजिए साहब ! उसके बाप की सूरत से मैं डरता था। जब मैंने देखा कि उसने अपनी बेटी की चमड़ी उधेड़ दी है, तो मैंने सोचा कि मेरे पीछे पड़ गया, तो जाने क्या हाल बनायेगा। सो मैं तो उसी रात को सामान वहीं छोड़ कर, रेल में सवार होकर लखनऊ आ गया। वह दिन और आज का दिन, देहली का रुख़ नहीं किया। अब्बास साहब, सच कहिए, इस वाके को अफ़साना बनाकर लिख दूँ, तो कैसा रहे ? मेरे ख़याल में हिन्दुस्तान में आज तक इतनी ज़ोरदार कहानी न लिखी गयी होगी और यही एक वाकया थोड़ा ही है। अपनी तो सारी ज़िन्दगी ही एक कहानी रही है। आपको सुनाने बैठूँ, तो सारी रात ख़त्म हो जाय। मगर अब दिल खट्टा

हो गया है। मुहब्बत भी करके देख ली, और ऐयाशी भी कुछ कम नहीं की। आपसे झूठ क्यों बोलूँ, जो कुछ जमींदार, ताल्लुकेदार करते हैं, सभी कुछ किया है। मगर ढाई साल हुए, दिल कुछ इस तरह टूटा कि दुनिया से बेज़ार हो गया। उस दिन से शराब तक छोड़ दी। बस आज ही आपकी ख़ातिर दो-एक पेग पी लिये हैं।"

उसके सामने आठव ग रक्खा था। उसने गिलास उठाया, उसमें सोडा मिलाया, चक्खा और फिर रख दिया। एक नया सिगरेट जलाया। धुएँ की जंजीर फिर उसके गिर्द फैल गयी। कुछ क्षणों के मौन के बाद उसने फिर बोलना शुरू किया और किसी फ़िल्मी सम्वाद को दोहराते हुए कहा—"मैं समझता हूँ कि दिल पर चोट लगने के बाद इनसान इनसान बनता है। इसके बग़ैर राइटर तो बन ही नहीं सकता।...जब शकुन्तला से मेरी मुहब्बत का रिश्ता टूटा है, पूछिए मत कि मेरे दिल पर क्या गुज़री है। पर उस दिन से हाल यह हो गया है कि आज ग़ज़ल दिमाग़ में आ रही है, तो कल कहानी, और परसों मज़मून।...दरअसल सच्ची मुहब्बत मैंने ज़िन्दगी में सिर्फ़ एक बार शकुन्तला से ही की है। आपने राजकुमारी शकुन्तला आफ़ देवनगर को तो ज़रूर देखा होगा—ताज वगैरा में?"

मैंने उसे बताया कि मुझे ताज वगैरा में जाने का मौका कम ही मिलता है।

" तो तस्वीर तो ज़रूर देखी होगी। रेसकोर्स, गवर्नमेन्ट हाउस की गार्डन पार्टी, हर जगह ही तो वह मौजूद रहती है। और 'ऑन लुकर' वगैरा में उसकी तस्वीरें बराबर निकलती रहती हैं। अपनी मुलाकात भी उससे अजीब तरह हुई। उस सीज़न में हम सब भाई-बहन मसूरी में एक कोठी लेकर ठहरे हुए थे। मसूरी की ज़िन्दगी तो

आप जानते ही हैं। दिन भर ताश खेलते, शाम को केबरे, रात को डिनर और डांस। आज यहाँ दावत है, तो कल वहाँ। बालरूम डांस मैं ज़रा अच्छा कर लेता हूँ। बचपन से मश्क की है। इंगलिश स्कूल का पढ़ा हुआ हूँ न।" बैरे को देखकर, ज़रा रुक गया।

"अच्छा डालो," उसने कहा—"तीसरा पेग भी पी लूँ।" यद्यपि बैरा उसके गिलास में नवाँ पेग डाल रहा था।

"हाँ, तो अब्बास साहब, राजकुमारी शकुन्तला उन दिनों विलायत से पढ़ कर नयी-नयी आयी थी। उसके नाच की बड़ी धूम थी। एक दिन मुझे डांस करते देख लिया। बस, सहेलियों से कहने लगी—'सारे हिन्दुस्तान में कोई डांस करना जानता है, तो बस यह लड़का। यह कौन है? मुझसे मिलाओ ज़रा।' किसी दोस्त ने हमारी मुलाकात करा दी। बस, साहब, उस दिन से तो हमारा जोड़ ऐसा बना कि हर डांस में इकट्ठे होते। धीरे-धीरे मुहब्बत भी हो गयी। शकुन्तला थी भी मुहब्बत के काबिल। एक तो खूबसूरत, फिर विलायत की पढ़ी हुई। अँगरेजी शायरी का तो बड़ा शौक था उसे। लिट्रेचर लिखती थी, लिट्रेचर। आप पढ़ेंगे, तो कहेंगे कि इनको तो छपवाना चाहिए। मैं कभी नावेल लिखूँगा, तो उन ख़तों को उसमें ज़रूर इस्तेमाल करूँगा। आप के ख़याल में नावेल कितने दिनों में लिखा जा सकता है? मेरा दावा है कि मैं दो महीनों में लिख सकता हूँ। प्लाट तो, आप जानते ही हैं, बना-बनाया तैयार है। और आपकी दुआ से कलम में ज़ोर और रवानी भी है। बस, आपकी थोड़ी-सी सलाह की ज़रूरत है।"

"आप कुछ नावलिस्टों के अच्छे नाविलों को पढ़ लें, तो बहुत अच्छा होगा," मैंने सलाह दी।

"वह सब तो मेरे पढ़े हुए हैं। मोपासाँ को तो चाट गया हूँ। और सच यह है कि उस फ्रांसीसी लेखक ने औरत के कैरेक्टर को जिस तरह पेश किया है, वह उसी का हिस्सा था। रह गये हिन्दुस्तानी लिखने वाले, तो साफ बात यह है कि मैं इन में से किसी का कायल नहीं हूँ। और आपके कृष्णचन्द्र वगैरा भी बस योंही हैं। हाँ, आपका मैं काफ़ी कायल हूँ। मगर आपके यहाँ गहरे वैज्ञानिक विश्लेषण की बड़ी कमी है। और वह मैं पूरी कर सकता हूँ। अगर मेरे तजरबे को आपके कलम की रवानी मिल जाय, तो कोई हमारे मुकाबले में नहीं आ सकता। मैं आपको कहानियों के लिए मसाला देता रहूँ और आप कहानियाँ लिखते रहें।"

मैंने यह कहना उचित न समझा, कि 'मसाला तो आप इस वक्त भी काफ़ी से ज्यादा मोहैया कर रहे हैं।'

"अब्बास साहब, सच बात यह है कि दुनिया सच्ची मुहब्बत को बर्दाश्त नहीं कर सकती। शकुन्तला को मुझसे कितनी मुहब्बत थी, उसका अन्दाज़ा इससे लगा लीजिए कि वह मुझसे शादी करने को तैयार थी। और तो और, उसने मुझे अपने बाप यानी राजा साहब का ए० डी० सी० बनवा दिया। पर दुनिया को कब यह गवारा था। चुगलियाँ, शिकायतें होने लगीं। मेरी कुछ तस्वीरें थीं। एक यहीं लखनऊ की बड़ी हसीन तवायफ़ है, उसके साथ। क्या नाम है उसका? बड़ा अच्छा सा नाम है।...ओह, याद ही नहीं आता। हाँ, तो एक ज़माने में हमारा आना-जाना था उसके यहाँ। मुहब्बत-वुहब्बत तो ख़ैर क्या हो सकती है रंडियों के साथ, लेकिन हाँ, वह पसन्द थी हमें। मज़ाक-मज़ाक में उसके साथ चन्द तस्वीरें खिंचवायी थीं। दुश्मनों ने वह तस्वीरें शकुन्तला के पास पहुँचा दीं और न

जाने क्या-क्या कान भरे। नतीजा यह हुआ कि राजा साहब ने रातों रात उसे मसूरी से पेरिस भिजवा दिया। और मैं लाख हाथ-पाँव मारता रहा, लेकिन हमारे अब्बा ने हमें पेरिस न जाने दिया।... बड़ी-बड़ी चोटें खायी हैं, साहब, मुहब्बत के इस मैदान में!"

बार के बन्द होने का समय हो गया था। बैरा बिल ले आया।

वह बिगड़ गया—"तुम्हारी यह मजाल कि हमें बार से निकालते हो? जानते हो, मैं कौन हूँ?"

इस तू-तू, मैं-मैं में मैनेजर आ गया। उसने कहा—"मुझे सरकारी आर्डर है बारह बजे बार बन्द करने का, नहीं तो मुझ पर जुर्माना होगा। अगर नहीं जायँगे, तो मुझे पुलीस को बुलाना पड़ेगा।"

पुलीस का नाम सुनकर मेरा दोस्त ठंडा पड़ गया। "अच्छा-अच्छा, जाते हैं," यह कहकर उसने दसवें पेग का अन्तिम घूँट चढ़ाया, बिल अदा किया और काँपती हुई टाँगों से चल खड़ा हुआ।

"माफ़ कीजिएगा, अब्बास साहब! मगर दुनिया बदल रही है। आज हम ताल्लुकेदारों की यह नौबत आ गयी है कि पुलिस का सिपाही डाँट सकता है। नहीं तो हमारे दादा के वक्त में...मगर खैर, वह बादशाह ही रहे हों, हमें क्या? और सच यह है, अब्बास साहब, कि ताल्लुकेदारी, जमींदारी खत्म हो रही है, तो अच्छा ही हो रहा है। आख़िर क्यों हमें ख़ून चूसने के लिए छोड़ दिया जाय! दुनिया में यही होता आया है। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है। हमने रैयत का ख़ून चूसा, काँग्रेस हमें खत्म कर रही है, और कल काँग्रेस को कम्युनिस्ट खत्म कर देंगे। चीन में आप जानते ही हैं कि

क्या हो रहा है। बस यह काँग्रेस वाले ज़्यादा-से-ज़्यादा पाँच बरस के मेहमान हैं। मगर इनके हक में एक बात जरूर कहूँगा, मुआवज़ा बुरा नहीं, अच्छा दे रहे हैं। बेकार ज़मीन के बदले नकद रुपया! मैंने तो सोच लिया है कि बीस-तीस हज़ार, जो कुछ मिलेगा, वह लेकर बम्बई आ जाऊँगा, और हम आप मिल कर जर्नलिज़्म करेंगे। मैं और आप...आप और मैं..."

और यह कहकर, हज़रतगंज की सड़क के बीचोबीच मुझसे गले मिलना शुरू कर दिया।

"मैं और आप...आप और मैं..."

"अरे, मुन्ना मियाँ, यहाँ आप क्या कर रहे हैं?" यह एक मैली-सी शेरवानी पहने हुए दुबला-पतला, काला-सा युवक था।

"कौन? अरे, पुत्तन! तू क्या कर रहा है?" और यह कहकर, उसने मुझे छोड़ कर उस नवागन्तुक से गले मिलना शुरू कर दिया। वह भी कुछ पेग चढ़ाये हुए था, क्योंकि दोनों ओर से गले मिलने में खूब उत्साह दिखाया जा रहा था।

"मुन्नन मियाँ, चलते हो चौक?"

"चौक-वौक जाना मैंने छोड़ दिया है। मगर ये हमारे दोस्त हैं अब्बास साहब। बम्बई से आये हैं। चलो इनको सैर करा दें। मैं तो मुद्दत से उधर गया ही नहीं। कोई है माकूल सूरत?"

"अरे, है क्यों नहीं? चम्पा के यहाँ ले चलता हूँ। तबीयत फड़क जायगी, मुन्नन मियाँ।"

"चम्पा? चम्पा?" उसने मस्तिष्क पर ज़ोर डालते हुए दोहराया। "कोई नयी होगी। चलो, देखें तो।"

मेरी राय किसी ने पूछी ही नहीं, और मोटर चौक की तरफ़

रवाना हो गयी। रास्ते में उसने मुझसे कहा—"अब्बास साहब, सिर्फ़ आपकी ख़ातिर इस कूचे में फिर कदम रख रहा हूँ, नहीं तो मैंने तो यह रास्ता ही छोड़ दिया है।"

सड़क के किनारे मोटर रोककर गलियों में पैदल चलना पड़ा। अँधेरी, तंग, दुर्गन्धित गलियाँ! किन्तु मेरे दोस्त के कदम इन गलियों के घुमाव-फिराव से परिचित थे। रास्ते भर वह प्रत्येक कोठे के बारे में बयान करता रहा—"यह मज्जन का कोठा है। हमारे दादा ने यहीं सवा-लाख रुपया लुटाया है।...और यहाँ हमारे चचा जान ने दो लाख मुशतरी पर न्योछावर कर दिये।...शुरू-शुरू में मैं यहाँ आया करता था। मगर बड़ी जल्दी मोटी हो गयी।...और मुझे मोटी औरतों से नफ़रत है। मैं तो कहता हूँ, औरत में नज़ाकत नहीं, तो कुछ भी नहीं।"

गन्तव्य स्थान आ गया। कोठे पर चढ़ने से पहले उसने मुझे रोककर, कहा—"अब्बास साहब, भूलिएगा नहीं...बम्बई...मैं और आप...हम दोनों जर्नलिज्म करेंगे जर्नलिज्म...यह शरीफ़ों का वायदा है।"

"अरे, आओ भी, मुन्नन मियाँ। छोड़ो इन बातों को।" उस दुबले-पतले, काले युवक ने कहा।

और हम सीढ़ियों पर होते हुए कोठे पर पहुँच गये।

एक काली, भद्दी स्त्री ने हमारा स्वागत किया और पुत्तन को साथ लेकर दूसरे कमरे में चली गयी। हम दोनों चाँदनी के फ़र्श पर गावतकियों के सहारे बैठ गये। दीवार पर एक सुन्दर युवती की बहुत-सी तस्वीरें टँगी हुई थीं, अधिकांश अकेली। किन्तु कुछ चित्रों में वह किसी सुन्दर युवक के साथ थी। मैं जिज्ञासु की भाँति खड़ा होकर

उन चित्रों को देखने लगा। वह सुन्दर युवक मेरा मित्र ही था। मुझे इससे कोई विशेष अचरज न हुआ। मैं उससे इसके बारे में कुछ कहने के लिए घूमा ही था कि देखा, एक दुबली-पतली, कोमल नख-शिख वाली युवती कमरे में प्रवेश कर रही है। मेरा मित्र एकाएक खड़ा हो गया और सम्बोधित कर, चिल्ला पड़ा—"लो, अब याद आ गया वह नाम। चम्पा! चम्पा ही तो था।"

"आपने तो हमें भुला ही दिया, मुन्नन मियाँ," युवती ने बैठते हुए, बड़े अन्दाज़ से कहा—"ईद का चाँद भी तो साल में एक बार निकल आता है। पर आप तो दो साल से ग़ायब हैं।"

वह बोला—"लाहौल विलाकूवत! माफ़ करना। इतने दिनों के बाद मुलाकात हुई है।"

चम्पा नकली ठण्डी साँस भरकर बोली—"आप तो हमें भूल ही गये, सरकार।"

"क्या बात करती हो? भला तुम्हें भूल सकता हूँ? हाँ, यह और बात है कि तुम्हारा नाम भूल गया था।"

चम्पा ने गाना शुरू किया। बुरा गाती थी।

उसने मेरे कान में कहा—"कहिए, क्या राय है?"

मैंने जवाब दिया—"शक्ल-सूरत अच्छी है।"

"अच्छी है? बस? इसी पर आप स्टोरी-रायटर और लेखक होने का दावा करते हैं?"...ग़ज़ब है, साहब, ज़ब। ज़रा नज़ाकत तो मुलाहज़ा कीजिए। सच पूछिए तो, साहब, इस नज़ाकत पर ही तो हम लखनऊ वाले मरते हैं।"

चम्पा अपनी बेसुरी आवाज़ में गाती रही। एक सिगरेट से दूसरा सिगरेट जलता रहा, और धुएँ के हलकों की ज़ंजीर में वह फिर गिरफ्तार हो गया।

जब दो बजे, तो मैंने कहा—"अब चलो, भाई। मुझे सुबह की गाड़ी से जाना है।"

वह बोला—"छोड़ो यार, गाड़ी-वाड़ी को!"

मैंने कहा—"मुझे परसों बम्बई पहुँचना है।"

उसने कहा—"गोली मारो बम्बई को!"

मैंने कहा—"मुझे ज़रूरी काम है वहाँ।"

उसने कहा—"इससे बढ़कर कोई ज़रूरी काम दुनिया में नहीं। ज़िन्दगी है तो यह है।...आपको हमारी कसम...इसकी कातिल मुस्कराहट तो देखिए।"

मैंने कहा—"मैं जाता हूँ।

उसने कहा—"आपकी मरज़ी!...बन्दा तो यहीं ठहरने वाला है।" और यह कहकर उसने धुएँ से छल्लों की जंजीर का एक और घेरा अपने गिर्द डाल लिया।

चलते-चलते मैंने कहा—"और वह जर्नलिज्म!"

उसने जैसे यह शब्द ही आज पहली बार सुना था। "जर्नलिज्म!...जर्नलिज्म!...जर्नलिज्म की ऐसी-तैसी!"

ज़ीने पर उतरने से पहले मैंने पीछे मुड़ कर देखा, तो वह अर्ध बेहोश हालत में गावतकिये के सहारे पसरा पड़ा था मानो मरणासन्न हो। पास ही ऐश-ट्रे के पानी में असंख्य सिगरेटों की लाशें सड़ रही थीं। चम्पा गा रही थी। वे दोनों एक धुएँ की जंजीर में बंधे हुए थे। और वह बड़बड़ा रहा था—"जर्नलिज्म!...हुँह, जर्नलिज्म की ऐसी-तैसी।"

'ऐसी-तैसी' तो मैंने सेन्सर के डर से लिखा है, नहीं तो उसने कुछ और कहा था।

नयी बरसात

सात दिन से लगातार पानी बरस रहा था। देहली के पुराने रहने वालों का कहना था कि वहाँ बीस बरस में इतनी बारिश कभी नहीं हुई थी। इस बार तो ऐसा लगता था, जैसे आसमान फटा पड़ रहा हो। नयी देहली की लाइनें पानी में डूब चुकी थीं। कनाट प्लेस एक गोल तालाब बन गया था। इण्डिया गेट के सामने, जहाँ सम्राट जार्ज पंचम की सफ़ेद मूर्ति एक अथक सन्तरी के समान अपनी अन्धी आँखें सेक्रेटेरियट पर जमाये खड़ी है, मुर्ग़ाबियाँ इतमीनान से सड़कों पर तैर रही थीं। सम्राट जार्ज पंचम की मूर्ति को बारिश की परवाह नहीं थी, क्योंकि उसके सिर पर संगमरमर की छतरी थी, जो उसकी पत्थर की, राजसी पोशाक को गीला होने से बचाये हुए थी। यह संगमरमर की

छतरी निर्जीव सम्राट के अतिरिक्त कुछ और प्राणियों को भी शरण दे रही थी। कई चीलें औरकौवे गीले परों में अपने सिर छिपाये, सिमटे-सिकुड़े वहाँ बैठे थे, कोई सम्राट के ताज पर, कोई सम्राट के पथरीले क़दमों में।

बारिश हो रही थी—गवर्नमेंट हाउस और सेक्रेटेरियट में, कनाट प्लेस में, नयी देहली की चिकनी सपाट सड़कों पर, पुरानी देहली की तंग और अँधेरी गलियों में, जामा-मस्जिद और लाल किले में, राजघाट पर, जहाँ से बिफरी हुई जमुना का पानी अब कुछ ही क़दम रह गया था, और शरणार्थी कैम्प की नयी बनी हुई नीची-नीची बैरिकों पर, जहाँ पश्चिमी पंजाब के वे शरणार्थी ठहरे हुए थे, जिन के बसने का अभी तक कोई स्थायी प्रबन्ध न हो सका था।

बारिश हो रही थी। आसमान पर, ज़मीन पर और उनके बीच वायुमण्डल में, हर जगह पानी-ही-पानी था। लेकिन यह पानी तालाब के पानी की तरह शांत पानी नहीं था। नदी की तरह बहता पानी भी नहीं था। समुद्र के समान इसमें तूफ़ान था, जोश था, उबाल था। किन्तु समुद्र में केवल आन्तरिक जोश होता है, ज्वार-भाटा भी केवल किनारे को ही भिगोकर फिर समुद्र में वापस चला जाता है। लेकिन यह बरसता हुआ पानी था, गरजता हुआ पानी—गोलियों की तरह बरसता हुआ, तोपों के समान गरजता हुआ। इस पानी में गति थी, ज़ोर था, शोर था। हवा के झक्कड़ के साथ बारिश का तमाचा अच्छों-अच्छों के होश उड़ाने के लिए काफ़ी था।

ऊषा अपनी खिड़की में खड़ी सोच रही थी कि वह कौन-सी शक्ति, कौन-सा चमत्कार है, जो पानी की बूँद-जैसी तुच्छ,

मुलायम और ज़रा-सी चीज़ को यह शक्ति, यह ज़ोर, यह वेग देता है।

उसके लिए बरसात किसी चमत्कार से कम न थी। उसका जन्म और पालन-पोषण मुलतान-जैसे शुष्क, रेगिस्तानी इलाके में हुआ था, जहाँ यदि कभी भूला-भटका बादल भी आ निकलता था, तो इस खुशी में सब स्कूलों में छुट्टी हो जाती थी। मुलतान में पानी की जगह रात-दिन रेत की वर्षा होती थी। मुलतान की रेत का ख़याल आते ही, ऊषा को एक झुरझुरी-सी आयी। जैसे कभी रेत से भरे हुए पाँव एक दूसरे से रगड़ खा जाँय, और सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ जाय। वह एक ऐसी सनसनी थी, जिसमें जवान लड़कियाँ आनन्द और वेदना दोनों का अनुभव करती हों।

और उसके दाँतों में किरकिराहट मसमूस होने लगी। जैसे आँधी ने उसे रेत का एक फंका खिला दिया हो।

मुलतान का रेतीला समुद्र! और देहली की यह बरसात! दो साल में वह कहाँ-से-कहाँ आ पहुँची थी। वह और उसके घर वाले, और उन-जैसे लाखों और शरणार्थी, जिनमें से दो-ढाई हज़ार तो उसी कैम्प में रह रहे थे। कोई पेशावर से आया था, तो कोई झंग से; कोई मुल्तान से, तो कोई शैखूपुरा से, और कितने तो आये ही न थे। वे रास्ते ही में खत्म हो गये थे। जैसे उनका पड़ोसी रामलाल और उसकी पत्नी लाजो, और उनका दूध पीता बच्चा; और ऊषा का मामा, जो शैखूपुरा में मारा गया था; और उसकी मौसी की बेटी, जो रास्ते में भगा ली गयी थी...और...और...सूची बहुत लम्बी थी, और उसको दोहराते-दोहराते ऊषा का दिमाग़ थक चुका था।

और उस समय मूसलाधार बारिश हो रही थी। हर तरफ़ पानी-ही-पानी बरसात का चमत्कार, जो उसने अपनी बाईस वर्ष की आयु में मुलतान में कभी न देखा था। ऊषा ने अपनी बाँह बाहर फैला दी। हवा के ज़ोर से पानी की बूँदें उसकी नर्म त्वचा पर ऐसे लगीं, जैसे तीर। एक अजीब चुभन-सी महसूस हुई, और ऊषा को एक झुरझुरी-सी आयी—एक ऐसी सनसनी, जिससे उसके जवान शरीर ने एक ही समय में एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र वेदना का अनुभव किया।

हवा तेज़ होती जा रही रही थी। बारिश के तीर अब ऊषा के चेहरे पर पड़ने लगे, उसके बालों में मोती पिरोने लगे। नन्हीं-नन्हीं बूँदें सूइयों की भाँति उसकी आँखों में चुभती गयीं। यहाँ तक की आँखें बेचैन हो उठीं, और उसे उनकी रक्षा के लिए पलकों के पर्दों को गिराना पड़ा। परन्तु वह खिड़की से न हटी। चेहरे और बाहों पर पानी पड़ने से उसके शरीर ने, जो जवान खून की गर्मी से तमतामाया हुआ था, एक अजीब तस्कीन महसूस की—यद्यपि यह आग पानी से बुझने वाली न थी।

टप-टप-टप-टप !

मूसलाधार बारिश और हवा के लगातार शोर में और सब आवाज़ें खोयी हुई थीं। न ऊषा को बराबर की कोठरी से अपने पिता के खाँसने की आवाज़ सुनायी दे रही थी, न अपनी छोटी बहन के गुनगुनाने की, जो एक कोने में बैठी चीथड़ों की एक गुड़िया से खेल रही थी और न इसी कमरे के दूसरे कोने की रसोई से माँ के रसोई करने की आवाज़। पर छत से पानी टपकने की टप-टप- न जाने कैसे उसके कानों तक पहुँच गयी।

टप-टप-टप-टप ?

उसने घूम कर देखा तो कच्ची मिट्टी के फ़र्श पर छोटा-सा कीचड़ का दायरा-सा नज़र आया, जहाँ बूंद-बूंद करके छत से पानी गिर रहा था। टप-टप के साथ ही जितनी आवाज़ें बारिश के शोर में खोयी हुई थीं, सब एकाएक फिर जीवित हो गयीं। उसके बाप की खाँसी, छोटी बहन का गुनगुनाना, माँ का देगची में डोई चलाना। बारिश का शोर अब इन आवाज़ों की पृष्ठभूमि में चला गया, और टप-टप-टप-टप की आवाज़ें उसके मस्तक पर छा गयीं।

छत टपक रही थी। उसने ऊपर देखा, तो कड़ियों पर पानी की सील का धब्बा बड़ा होता हुआ दिखायी दिया। दीवारों के ऊपर के कोनों से भी पानी रिस रहा था और सील धीरे-धीरे नीचे की ओर रेंग रही थी। इसका तो कोई इलाज ही न था। हाँ, टपकती हुई छत के नीचे उसने दौड़ कर मिट्टी का कूँडा रख दिया, जिसमें कि पानी की बूंदें उसी में गिरें, और सारा फर्श कीचड़ न बन जाय। लेकिन अभी उसने कूंडा रखा ही था कि छत एक और जगह से भी टपकने लगी और उसे दूसरी जगह टीन का एक खाली डिब्बा रखना पड़ा, जो उसका बाप कहीं से उठा लाया था।

ऊषा फिर खिड़की में जाकर खड़ी हो गयी। और बचपन की सुनी हुई एक कहानी याद करके मुस्करा दी। एक बुढ़िया जंगल में अकेली अपनी झोंपड़ी में रहती थी। बरसात के दिन थे। एक शेर भागता हुआ आया और झोपड़े की दीवार की आड़ में खड़ा हो गया। अन्दर बुढ़िया से कोई मुसाफ़िर पूछ रहा था—"बुढ़िया माँ, तुम इस जंगल में अकेली रहती हो। तुम्हें शेर से डर नहीं लगता?" बुढिया बोली—"नहीं, बेटा, मैं शेर-वेर से नहीं डरती। हाँ, टपके से ज़रूर डरती हूँ।" यह सुनकर शेर वहाँ से भागा कि न जाने यह

टपका कौन-सा भयानक जीव है। शेर भागा जा रहा था, कि एक गीदड़ ने रोका और पूछा, "क्यों भागे जा रहे हो! तुम जंगल के राजा हो। तुम्हें किसका डर!" शेर ने जल्दी से जवाब दिया—"टपके का!" और भागता चला गया।

ऊषा ने सोचा कि यही हाल आज हम सब शरणार्थियों का है। दुनिया के कितने खतरों और कितनी मुसीबतों का सामना करके हम यहाँ आये हैं। भेड़ियों और शेरों से बच गये, पर अब इस टपके ने आ पकड़ा। इससे भला कौन छुटकारा पा सकता है।

बारिश के पर्दे में से बाकी सब बैरिकें धुँधली-धुँधली सी दिखायी पड़ रही थीं। मैदान में घुटनों-घुटनों पानी भरा था। इसलिए एक-दूसरे की खैर खबर लेने कोई आ-जा नहीं सकता था। पर ऊषा यहाँ से भी देख रही थी कि सब शरणार्थी उसी टपके की मुसीबत में गिरफ़्तार हैं। कोई बाल्टी रख रहा है, कोई पतीला और और कोई कनस्तर। दो-चार हिम्मत वाले लँगोट बाँध कर, छत पर चढ़े हुए थे और मिट्टी डाल कर, छेदों को बंद करने का प्रयत्न कर रहे थे।

सब बैरिकों में सब कमरों की छतें टपक रही थीं। लेकिन उनके सिर पर छतें थीं तो, नहीं पिछले साल यही दिन उन्होंने तम्बुओं में बिताये थे और उससे पिछले साल इन्हीं दिनों वे और उन-जैसे लाखों जन सड़क पर घिसटते आ रहे थे, या मैदानों में पड़े हुए थे। मुलतान से निकल कर, ऊषा और उसके घर वालों ने पहली बरसात खुले आसमान के नीचे बितायी थी, दूसरी कपड़े की छत के नीचे और अब तीसरी बरसात में उन्हें यह मिट्टी की छत नसीब हुई थी।

यद्यपि यह छत टपकती थी, फिर भी छत तो थी ! इसके लिए उन्हें भगवान, सरकार और इन बैरिकों के बनाने वाले ठीकेदार सुन्दरलाल का कृतज्ञ होना चाहिए।

सुन्दरलाल का ध्यान आते ही, ऊषा का चेहरा तमतमा उठा। सारे शरीर में एक सनसनी-सी दौड़ गयी। उसने एक बार अपनी बाहों को बारिश में फैला दिया। और नुकीली बूंदों के स्पर्श से एक बार फिर वह उस आनन्द से परिचित हुई, जो एक ही समय में आनन्द भी था और वेदना भी।

सुन्दरलाल !

क्या ऊषा को उससे प्रेम था ?

सुन्दरलाल, जिसने ये बैरिकें बनवायी थीं—ये कमरे, यह छत, ये ये दीवारें, यह फर्श...यह सब कुछ उसी का बनवाया हुआ था। इसीलिए तो हर दीवार और दरवाज़े में ऊषा को उसकी याद दुबकी हुई नज़र आती थी। सुन्दरलाल ने शरणार्थियों के लिए यह बस्ती ही नहीं बनवायी थी, बल्कि एक शरणार्थी, ऊषा, के जीवन और आत्मा के खँडहरों पर भी नये सिरे से निर्माण-कार्य किया था।

उससे वह पहली मुलाकात ! क्या ऊषा कभी उसे भुला सकेगी ? वह दिन, वह घड़ी, वह क्षण आज तक एक दीपक की भाँति उसके हृदय में जगमगा रहा था। ऊषा को अकसर ऐसा अनुभव होता, मानो उसका जीवन उस क्षण से आरम्भ हुआ था, जब वह सुन्दरलाल से पहली बार मिली थी।

कितनी विरक्त थी उन दिनों वह ज़िन्दगी से, कितनी मायूस और बेज़ार ! शरणार्थी जीवन के दुख उठाते-उठाते वह

अपने-आप से ही उकता गयी थी। चारों ओर उसे कहीं भी तो सुख या आशा की झलक न दिखायी पड़ती थी।

और फिर एक दिन अच्छे खाते-पीते घरानों की कुछ लड़कियाँ बहुत चमकीली, बड़ी-बड़ी मोटरों में बैठ कर उनके कैम्प में आयीं और कहा कि वे शरणार्थियों के लिए चन्दा जमा करना चाहती हैं। उन्होंने कहा—"हम अपने शरणार्थी भाई-बहनों के लिए भीख माँगने निकल रही हैं। हम घर-घर जायँगी और चन्दे के लिए झोली फैलायेंगी। पर हम चाहती हैं, कि एक शरणार्थी बहन भी हमारे साथ हो, जिसमें कि वह अपनी दुखी बिरादरी की मुसीबतों को अच्छी तरह बयान कर सके। हमें विश्वास है, कि इस तरह हम अधिक से-अधिक चन्दा वसूल कर सकेंगी।"

सब की निगाहें घूम कर ऊषा पर जम गयीं, क्योंकि उस कैम्प में ऊषा ही सब से अधिक पढ़ी-लिखी, समझदार और सुन्दर थी और वे सब यह जानते थे कि ऊषा-जैसी सुन्दर शरणार्थी लड़की को देख कर पत्थर-दिल वाले भी मोम हो जायँगे।

उसके पिता ने भी कहा—"जा ऊषा, तू ही जा! जब ये बेचारी हमारी सेवा करने निकली हैं, तो हमें भी इनका हाथ ज़रूर बँटाना चाहिए।"

ऊषा उन लड़कियों के साथ मोटर में बैठकर, नयी देहली और पुरानी देहली की कितनी ही शानदार सड़कों पर घूमी थी। महल, बँगले, दूकानें, कारखाने, सब कहीं वे गयीं। किसी ने कहला दिया, कि घर पर नहीं हैं। किसी ने कहा—"इस समय एकाउँटेंट नहीं है। हम बाद में चेक भिजवा देंगे। आप पता छोड़ जाइए।" किसी ने दस-पाँच रुपये देकर टाल दिया। एक लखपती ने अपने पाँच सौ

रुपये के सोफ़ा-सेट पर बैठे हुए, अपनी सोने की अँगूठियों से खेलते हुए, कहा—"साहबे, मेरा तो खुद पाकिस्तान में इतना नुकसान हुआ है कि औरों को चन्दा देने की जगह खुद अपने लिए चन्दा जमा करने की सोच रहा हूँ।" पर उन सब की निगाहों ने ऊषा को इस तरह घूरा, जैसे मोल तोल कर रही हों, कि यह शरणार्थी लड़की किस दाम में मिल सकती है। उनमें से कई ने उससे पूछा कि वह किस शरणार्थी कैम्प में रहती है और अकेली है या अपने माँ-बाप के साथ, इत्यादि-इत्यादि। अपने चेहरे और शरीर पर उनकी कामुक दृष्टियों की चुभन महसूस करते हुए, ऊषा की निराशा बढ़ती गयी, और उसे ऐसा लगा, जैसे दुनिया में इनसानों की नस्ल ही खत्म हो चुकी हो और अब केवल भूखे भेड़िये रह गये हों।

और फिर वे सब सुन्दरलाल के दफ़्तर में पहुँचीं। अन्दर जाने से पहले 'सुन्दरलाल, कंट्रेक्टर, इम्पोर्टर, एक्सपोर्टर, का बोर्ड देख कर, वे सब समझी थी कि वह कोई मोटा, गंजा, बूढ़ा सेठ होगा। लेकिन सफ़ेद कमीज़, सफ़ेद पतलून पहने, एक गोरे-चिट्टे सुन्दर नवयुवक को देख कर, वे हैरान रह गयीं। सेठ या ठीकेदार के बजाय, वह कालेज का विद्यार्थी मालूम होता था। उसने उनको बड़ी नम्रता से हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और ऊषा ने देखा कि उसके हाथ बड़े मुलायम और नाज़ुक हैं। पतली-पतली सुडौल उंगलियाँ, जैसे कलाकारों की होती हैं। वह पहला व्यक्ति था, जिसने ऊषा को या उसके साथ की लड़कियों को घूरा नहीं, बल्कि बड़ी ही सभ्यता से आँखें नीची किये, उनकी बातें सुनता रहा। ऊषा ने थोड़े शब्दों में शरणार्थियों का हाल सुनाया। कैम्प की कठिनाइयों का ज़िक्र किया और बताया कि केवल सरकारी सहायता उनकी हालत सुधारने के

लिए काफ़ी नहीं और उन्होंने देखा, कि जब सुन्दरलाल ने निगाहें उठायीं, तो उसकी आँखें डबडबाई हुई थीं।

"माफ़ कीजिएगा," उसने जेब से एक सफ़ेद रूमाल निकाल कर, उससे आँखें पोंछते हुए कहा—"आपको शायद मालूम नहीं कि मेरे पिता जी भी लायलपुर में मारे गये थे।" रूमाल में हल्का-हल्का सेंट लगा हुआ था, जिसकी सुगन्ध हवा में फैल गयी।

"तो आप भी पच्छिमी पंजाब के रहने वाले हैं ?" ऊषा ने प्रभावित हो कर पूछा।

"जी नहीं। हम रहने वाले तो देहली के ही हैं, पर हमारा काफ़ी कारबार था उधर। पिता जी लायलपुर इसीलिए गये हुए थे।"

फिर उसने उनके कहे बिना, पाँच सौ रुपये का चेक लिख कर दे दिया। साथ ही विनम्रता से कहा—"आप देवियों को मेरी सेवा की फिर कभी ज़रूरत हो तो याद कीजिएगा।" और फिर हाथ जोड़ कर उन्हें विदा कर दिया।

ऊषा जब घर वापस आयी तब सुन्दरलाल का व्यक्तित्व उसके दिल और दिमाग़ पर पूरी तरह छा चुका था।

उस दिन से उसने अपने जीवन में एक नयी ताज़गी, एक नये उत्साह और एक नयी उमंग का अनुभव किया। वह अपने आस पास की चीज़ों में दिलचस्पी लेने लगी। अब उसे जीना दूभर न मालूम होता। उसने सोचा कि बेकार बैठने से क्या फ़ायदा और अपने कैम्प के शरणार्थी बच्चों के लिए वहीं एक तम्बू में स्कूल खोल दिया। चालीस-पचास लड़के-लड़कियों ने अपने नाम लिखा लिये। पर स्कूल चलाने के लिए रुपये की ज़रूरत थी। बच्चों के बैठने के लिए बेंच और डेस्क

नहीं तो चटाइयों की आवश्यकता तो थी ही। इसके अतिरिक्त किताबों, तख्तियों, स्लेटों और कलम-दावात की भी बच्चों के लिए ज़रूरत थी। ग़रीब शरणार्थियों के पास इतने पैसे कहाँ थे कि वे अपने बच्चों के लिए पढ़ायी-लिखायी का सामान खरीद सकें? बिना पूँजी के ऊषा बेचारी का स्कूल कैसे चले? और यह पूँजी वह लाये तो कहाँ से लाये? कई दिन वह इस सोच और परेशानी में रही। और फिर एक दिन दिल की गहराई में से किसी ने धीरे से कहा, 'आप देवियों को मेरी सेवा की फिर आवश्यकता हो, तो याद कीजिएगा।' और अगले दिन ऊषा सुन्दरलाल के आफ़िस जा पहुँची। लेकिन आज तक वह स्वयं यह न तय कर पायी थी कि वह वहाँ अपने स्कूल की ग़रज से गयी थी, या सुन्दरलाल के व्यक्तित्व का आकर्षण उसे वहाँ ले गया था।

सुन्दरलाल उसे देख कर मुस्करा दिया। कितनी मनोहर थी उस की मुस्कान और उसकी आँखें कितनी खूबसूरत और ज़िन्दगी से भरपूर थीं। मुस्कराती, नाचती हुई आँखें, मुस्कराते, खेलते हुए ओंठ! पर उसकी ठुड्डी से दृढ़ता का पता चलता था और जिस मज़बूती से उसके कोमल हाथ की पतली-पतली उँगलियाँ शीशे के पेपर-वेट को दबोचे हुए थीं, उससे मालूम होता था, कि इस व्यक्ति की गिरफ़्त से किसी चीज़ या किसी व्यक्ति का निकलना काफ़ी कठिन होगा।

सुन्दरलाल मुस्कराया और बोला—"तो आप आ ही गयीं?" और न जाने क्यों, ऊषा को ऐसा महसूस हुआ, मानो वह उसकी प्रतीक्षा करता रहा हो। उसने कुछ हकलाते हुए अपने आने का उद्देश्य बतलाया और अभी वह स्कूल चलाने में जो कठिनाइयाँ थीं उनकी सूची पूरी भी न कर पायी थी कि सुन्दरलाल ने बटुए से ही सौ-सौ रुपये के दो नोट निकाल कर, उसकी तरफ़ बढ़ा दिये।

कहा—"माफ़ कीजिएगा, इस महीने मैं इससे अधिक न दे सकूँगा।"

"जी ? इस महीने ? यानी...?"

"यानी यह, कि अगले महीने आपको फिर तकलीफ़ करनी पड़ेगी।... हाँ, आपका शुभ नाम क्या है ?"

"ऊषा ! ऊषा भल्ला।"

"अच्छा, तो नमस्ते !" नर्म और नाज़ुक हाथ नमस्कार कर रहे थे।

"नमस्ते !" कह कर, वह चली आयी।

घबराहट में वह धन्यवाद देना भी भूल गयी। रास्ते भर वह सोचती रही, कितना सुन्दर, कितना सभ्य था। कोई होता तो अकेली युवा लड़की को देखकर न जाने क्या-क्या टेढ़ी-सीधी बातें करता। पर उसने तो एक भी अनावश्यक शब्द मुँह से नहीं निकाला और फिर परेशान करने वाले संदेह ने उसके हृदय में सिर उठाया। 'शायद वह मुझे बिलकुल नापसंद करता है। तभी तो जल्दी से चंदा देकर टाल दिया और मुझे रोकने के लिए एक बात भी न की। क्या मैं इतनी कुरूप हूँ ?'

चलते-चलते वह कनाट प्लेस की एक दवाइयों की दुकान के सामने रुक गयी, जहाँ वज़न करने की मशीन रखी थी। उसने आईने में अपनी सूरत देखने के लिए, अनायास और बेज़रूरत अपना वज़न भी कर डाला। इकन्नी डाली तो कार्ड निकला। उस पर वज़न एक मन दस सेर लिखा हुआ था। साथ में भविष्यवाणी भी छपी हुई थी, 'तुम्हारे जीवन में एक बड़ा परिवर्तन आने वाला है।'

ऊषा ने मुस्करा कर, अपने आप को शीशे में देखा। उसके गालों पर सुर्खी की एक लहर दौड़ गयी थी और आँखें चमक रही थीं।

एक महीने के बाद, वह फिर सुन्दरलाल के दफ़्तर में पहुँची। दोपहर के खाने की छुट्टी होने वाली थी और सुन्दरलाल बाहर जाने की तैयारी कर रहा था।

"माफ़ कीजिएगा, मैं ग़लत समय पहुँची। रास्ते में बड़ी देर हो गयी।

जवाब में वह मुस्करा दिया, वही अपनी खास मुस्कराहट, जिसमें तस्कीन और हमदर्दी के अतिरिक्त मज़ाक की हल्की-सी चाशनी भी थी। जैसे कोई किसी बच्चे को बड़बड़ाता देखकर मुस्करा दे।

"आप बिलकुल ठीक वक्त पर आयी हैं, मिस...।"

"भल्ला।...ऊषा भल्ला," उसने जल्दी से कहा। मन में सोचा, 'इसे तो मेरा नाम भी याद नहीं। अमीर आदमी है। भला इसे मेरी क्या परवाह?'

"ऊषा मुझे याद था,...सिर्फ़ भल्ला भूल गया। बैठिए, बैठिए! कहिए, आपका स्कूल कैसा चल रहा है?"

ऊषा ने संक्षिप्त-सी रिपोर्ट सुना डाली। सुन्दरलाल के रुपये से चटाइयाँ आ गयी थीं। स्वयं उसके लिए एक सेकेंड हैंड मेज़ और कुर्सी भी आ गयी थी। बच्चों को पुस्तकें, स्लेटें, क़लम-दावात, कापियाँ और पेंसिलें भी मिल गयी थीं। पढ़ाई नियमपूर्वक हो रही थी। लेकिन वह चाहती थी कि दो अध्यापिकाओं को वेतन पर और रख ले, जिसमें कि कक्षाओं की पढ़ायी अलग-अलग हो सके।

और एक बार फिर सौ-सौ रुपए के दो करारे नोट सुन्दरलाल के बटुए से निकल कर ऊषा के बटुए में पहुँच गये।

"अच्छा, तो मैं चलती हूँ," कह कर, वह खड़ी हो गयी। "आपकी सहायता के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद ! नमस्ते !"

"इतनी जल्दी क्या है ?"

"भोजन किये बिना ही चल पड़ी थी। बस में इतनी देर हो गयी।"

"तो यों कहिए कि भूख लगी है। मैं खुद खाना खाने जाने ही वाला था। अगर कोई आपत्ति न हो तो साथ-साथ खाना खा लें ?"

एक क्षण के लिए ऊषा घबरायी कि शायद वह उसे भोजन के लिए अपने घर ले जायगा। किन्तु सुन्दर लाल ने जल्द ही उसकी आशंका दूर कर दी। "सिर्फ़ सामने वाले रेस्तराँ तक जाना होगा। वहाँ खाना अच्छा मिलता है।"

ऊषा ने इतना शानदार रेस्तराँ पहले कभी न देखा था और न मुल्तान छोड़ने के बाद कभी इतना अच्छा भोजन किया था। लेकिन खाने से ज्यादा मज़ेदार सुन्दरलाल की बातें थीं। उसने केवल दो साल पहिले कालिज छोड़ा था और अब भी वह कालिज का विद्यार्थी ही मालूम होता था। उसने अपने कालिज के जीवन के कितने ही चुटकुले सुना डाले और ऊषा को खूब हँसाया और चौदह महीनों के शरणार्थी जीवन में आज वह पहली बार इस तरह दिल खोल कर हँसी।

कितना भोला था सुन्दरलाल का ढंग ! बातें करते-करते उसने मेज़ पर रखे हुए गुलदस्ते से एक गुलाब का फूल ले लिया, और देखते-देखते अनायस ही उसे मसल डाला। फिर जब उसने

महसूस किया कि उसने क्या किया है, तो मसली हुई पत्तियों को ऊषा की प्लेट के सामने ढेर कर दिया और आप-ही-आप हँस पड़ा।

ऊषा ने ज़रूरत से अधिक भोजन कर लिया, इसलिए नहीं कि उसे बहुत भूख लगी थी, बल्कि इसलिए कि वह आनन्दमय उन क्षणों को बढ़ाना चाहती थी। रेस्तराँ से और सब लोग भोजन कर के, एक-एक कर जा रहे थे। जब ऊषा ने आईसक्रीम की दूसरी प्लेट खत्म कर के, दीवार पर लगी हुई घड़ी की ओर देखा तो ढाई बजे थे। इतनी देर हो जाने के खयाल से वह घबरा गयी।

"मुझे तुरन्त जाना चाहिए। बस में जाते-जाते चार बज जायँगे। माता जी परेशान हो रही होंगी।"

"घबराइए नहीं। आप पौने-तीन बजे पहुँच जायँगी।"

"यह कैसे हो सकता है? एक घंटे का तो रास्ता ही है। और फिर न जाने कितनी देर 'क्यू' में खड़ा रहना पड़ेगा।

"आप मेरे साथ आइए। मैं बताता हूँ, कैसे हो सकता है।"

दफ़्तर के सामने उसकी छोटी-सी भूरी कार खड़ी थी। दरवाजा खोल कर, ऊषा से कहा—आइए!"

वह एक क्षण के लिए झिझकी। उसने सुन रखा था कि आवारा किस्म के रईस राह-चलती लड़कियों को इसी तरह मोटर में बैठा कर भगा ले जाते हैं। लेकिन नहीं, सुन्दरलाल जैसे मासूम चेहरे वाला नवयुवक कभी ऐसा नहीं कर सकता। फिर इसके साथ जाने में क्या डर है? वह मोटर में बैठ गयी। ड्राइवर की जगह सुन्दरलाल स्वयं बैठ गया। मोटर चल पड़ी।

कुछ सहमी हुई निगाहों से ऊषा देखती रही, कि मोटर कौन सा रास्ता पकड़ती है। यह देख कर उसने संतोष की साँस ली कि वह सीधे शरणार्थी-कैम्प की ओर ही जा रही थी। तब उसके दिल ने बेचारे सुन्दरलाल पर संदेह करने के अपराध में उसको धिक्कारा। वह कितना भला था! रास्ते भर उसने सड़क से अपनी निगाह न उठायी। बराबर बैठी हुई ऊषा को छूना तो दूर रहा, उसकी ओर नज़र घुमा कर देखा भी नहीं। न कोई ऐसी बात की, जिससे मालूम हो कि वह एक शरणार्थी लड़की की ग़रीबी से फ़ायदा उठा कर, उससे प्रेम करने का ढोंग रचना चाहता है। केवल शरणार्थी कैम्प, ऊषा के स्कूल और ऐसे ही साधारण विषयों पर सुन्दरलाल बातें करता रहा।

"लीजिए, आ गया आपका कैम्प," सड़क के किनारे उसने गाड़ी रोक ली, और कलाई की घड़ी दिखाते हुए कहा—'देख लीजिए, पौने तीन बजने में तीन मिनट बाकी हैं, इसलिए मुझे आपसे तीन मिनट और बातें करने का हक़ है।

कितना सादा, सरल और सच्चा दोस्तना ढंग था उसके विनोद भरे वाक्य का!

ऊषा हँस कर बोली—"कहिए क्या बात करनी है?"

वह दूर तक फैली हुई तम्बुओं की पंक्तियों को देख रहा था! ऊषा को ऐसा लगा, जैसे सुन्दरलाल के प्रसन्न मुख पर सोच, चिन्ता और शायद दुख का हल्का-सा बादल छा गया!

"कितने आदमी हैं आपके कैम्प में?" सुन्दरलाल ने पूछा।

"स्त्रियाँ, बच्चे मिला कर सब ढाई तीन हज़ार होंगे।"

"खेमों में रहने से तो काफ़ी तकलीफ़ होती होगी ?" और यह कहकर वह कुछ क्षणों के लिए चुप हो गया।

"आप क्या सोच रहे हैं ?"

"मैं सोच रहा हूँ कि हममें शरणार्थियों के साथ हमदर्दी जताने वाले तो बहुत से हैं, लेकिन बहुत कम लोगों का यह ख़याल है कि इन बेचारों का जीवन कितने दुख और तकलीफ़ से कटता है।" और फिर कुछ क्षण चुप रह कर, वह बोला—"मैं सोच रहा हूँ, कि सरकार शरणार्थियों को कब तक खेमों में रखेगी। इनके लिए पक्के मकान क्यों नहीं बनवाये जाते ?"

तीसरे या शायद चौथे दिन ऊषा ने अख़बार में पढ़ा कि सरकार शरणार्थी-कैम्प में पक्की बैरकें बनवाने की योजना पर विचार कर रही है तो उसने सोचा, 'उनके मुँह में घी-शक्कर ! उनकी उस दिन की बात कितनी शुभ सिद्ध हुई !'

इसके कुछ दिन बाद सरकारी इंजीनियर और ओवरसियर आये और ज़मीन की नपाई शुरू हो गयी। फिर अखबार में विज्ञापन निकले कि शरणार्थी-कैम्प की बैरकों के लिए टेंडर की ज़रूरत है।

अगला महीना आ पहुँचा। ऊषा अपने स्कूल के लिए चन्दा लेने, फिर सुन्दरलाल के दफ़्तर पहुँची। इस बार उसे मिलने के लिए कुछ मिनट बाहर के कमरे में प्रतीक्षा करनी पड़ी, क्योंकि चपरासी ने बताया कि साहब काम में लगे हैं। दफ़्तर में काफी रौनक और चहल-पहल थी। सुन्दरलाल के कमरे से क्लर्क, चपरासी आदि फ़ाइलें, नक्शे आदि लेकर अन्दर-बाहर आ-जा रहे थे। टाइपिस्ट खटाखट चिट्ठियाँ टाइप कर रहे थे। टेलीफ़ोन की घंटी बार-बार बज रही थी। सुन्दरलाल के व्यक्तित्व की भाँति उसके दफ़्तर में

भी कितनी सफ़ाई, कितनी सुन्दरता कितनी जिन्दगी थी ! ऊषा को उस दफ़्तर की हर-एक चीज़ पसन्द थी। कैसे क़ायदे से मेज़-कुर्सियाँ सजायी गयी थीं, कैसे संगठित ढंग से यहाँ काम होता था। दीवारों पर लगी हुई सुन्दर इमारतों की रंगीन तस्वीरें और मकानों के नीले-नीले नक्शे, टाइप रायटर, टेलीफ़ोन, चपरासियों की साफ़-सुथरी खद्दर की वर्दियाँ, सफेद कोट, सफेद पतलून और सफेद गाँधी टोपी, सीने पर पीतल का चमकता हुआ बिल्ला, जिस पर सुन्दरलाल की कम्पनी का नाम खुदा हुआ था—हर चीज़ में उसके व्यक्तित्व की छाप थी।

एक क्लर्क फ़ाइलों का ढेर लिये हुए निकला तो बीच का दरवाज़ा बन्द करना भूल गया। और अन्दर के दफ़्तर में जो बातें हो रही थीं, उनकी भनक ऊषा के कान में पड़ने लगी।

कोई आदमी कह रहा था—"सुन्दरलाल जी, सोच लीजिए। आप ठेका लेने की खातिर इतना नीचा 'टेंडर' दे रहे हैं कि आप इस कीमत में ये इमारतें हर्गिज़ न बना पायेंगे।"

सुन्दरलाल कह रहा था—"इंजीनियर साहब, आप इसकी परवाह न कीजिए। यह सब मैं समझ लूंगा। मैंने तय कर लिया है, कि उस शरणार्थी-कैम्प का ठेका मैं लूँगा और उसे मैं ही बनवाऊँगा।"

"क्यों कोई खास कारण है ?"

"हाँ, यही समझ लीजिए।"

न जाने कैसे, ऊषा को विश्वास हो गया कि अन्दर जिस ठेके की बातें हो रही हैं, वह उनके कैम्प के लिए ही है। और इस ख़याल से उसका चेहरा तमतमा उठा, कि शायद...शायद...वह 'खास कारण' वह स्वयं थी, जिसके लिए सुन्दरलाल उस कैम्प का ठेका लेने के लिए इतना अधिक प्रयास कर रहा था। 'क्या यह सम्भव है कि उन्हें मेरा

इतना खयाल है कि नुकसान उठाकर भी वे हमारा कैम्प बनवाना चाहते हैं ! क्या यह सम्भव है ! क्या ऐसा हो सकता है !'

यह सवाल उसके दिमाग़ में घूम ही रहा था कि दरवाज़ा खुला, और इंजीनियर, क्लर्क आदि अन्दर के कमरे से निकले। सुन्दरलाल उन सब को छोड़ने दरवाज़े तक आया। इंजीनियर से हाथ मिलाते हुए उसकी नज़र ऊषा पर पड़ी और वह सब को छोड़ कर, एकाएक उसकी ओर आकर्षित हुआ।

"ओह !...हल्लो !...हल्लो, मिस भल्ला ! कैसी हैं आप ? आइए, अन्दर आइए, !" और ऊषा को अन्दर साथ ले जाते हुए बोला—"माफ़ कीजियगा, आपको इंतज़ार करना पड़ा। मैं उन लोगों से एक ज़रूरी बात कर रहा था।"

ऊषा से न रहा गया। बोली—"दरवाज़ा खुला रह गया था, इसीलिए दो-चार बातें मेरे कान में पड़ गयीं। क्या यह सब सच है, कि आप हमारे शरणार्थी-कैम्प की बैरकें बनवाने का ठेका ले रहे हैं ?"

अपनी खास मुस्कराहट के साथ उसने सर हिला कर, स्वीकार किया—"देखिए, कोशिश तो कर रहे हैं। आप हमारे लिए दुआ करें तो शायद काम बन जाय !"

ऊषा ने उसे विश्वास दिलाया—"मैं क्या, सभी प्रार्थना करेंगे, कि आपको ठेका मिले, क्योंकि, आपसे अधिक किसी ठीकेदार को हम से हमदर्दी नहीं हो सकती। लेकिन आप इतना नीचा 'टेंडर' क्यों दे रहे हैं ? क्या आपको नुकसान नहीं होगा ?"

"नफ़ा-नुकसान तो बिज़नेस में होता ही रहता है," उसने एक अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराते हुए जवाब दिया—"और कभी-कभी एक ही सौदे में अगर एक तरफ़ नुक़सान होता है, तो दूसरी तरफ़ फ़ायदा हो जाता है !"

यह कह कर, उसने ऊषा की ओर इस प्रकार देखा कि वह समझ गयी कि सुन्दरलाल का इशारा किस 'फ़ायदे' की ओर है। वह शरमा गयी।

"यह लीजिए इस महीने का चन्दा। और अगर ठेका मिल गया, तो फिर आपको यहाँ आने की तकलीफ़ न करनी पड़ेगी। मैं खुद ही दे दिया करूँगा ! मुझे लगता है कि अगले कुछ महीनों में मुझे आपके कैम्प के कितने ही चक्कर लगाने पड़ेंगे।"

यही हुआ। तीसरे दिन सुन्दरलाल अपने इंजीनियरों को लेकर वहाँ की ज़मीन नापने के लिए आया। ऊषा ने उसे अपना स्कूल दिखाया, जो उसी के चंदे से चल रहा था। और सुन्दरलाल ने कहा—"अब बहुत जल्द इस स्कूल के लिए पक्की इमारतें बन जायँगी। हमने सरकार को लिखा है कि अगर हम को ठेका दिया गया, तो हम स्कूल के लिए एक हाल अपने ख़र्च पर बनवा देंगे !"

यह सुनकर ऊषा का हृदय कृतज्ञता की भावना से भर गया।

कुछ हफ़्ते बाद सुन्दरलाल फिर आया और ऊषा को यह शुभ सम्वाद सुनाया कि कम्पनी को ठेका मिल गया है और कुछ दिनों में नींव खोदने का काम शुरू हो जायगा। ऊषा अभी स्कूल नहीं गयी थी। उसने सुन्दरलाल का परिचय अपने पिता और

माता, दोनों से कराया। वे पहले ही से इस उदार और भले नौजवान का दम भरते थे, मिलकर और भी प्रसन्न हुए।

सुन्दरलाल ने ऊषा के पिता से कहा—"आप कोई चिन्ता न कीजिए। मैं ये इमारतें नये ढंग से बनवा रहा हूँ। आप देखिएगा कि मैं कितनी जल्दी ये सारी बैरकें खड़ी करा देता हूँ। मेरी तो यही इच्छा है कि जितनी जल्दी हो सके, आप इन डेरों-खेमों से निकल कर पक्के मकानों में रहने लगें।"

ऊषा की माँ ने कहा—"जीते रहो बेटा! हम ग़रीबों का तुम्हें कितना ख़याल है! भगवान सुखी रखे!"

ऊषा की छोटी बहन उमा एक कोने में शर्मायी खड़ी थी, उसे देखते ही सुन्दरलाल ने जेब से चमकीले काग़ज में लिपटा हुआ चाकलेट निकाला और उसकी तरफ़ बढ़ाया।

"यह लो, उमा। यह चाकलेट मैं खास तुम्हारे लिए लाया हूँ।"

देखते-देखते काग़ज़ की चमक ने शर्मीली उमा को लुभा लिया और उसने बढ़कर चाकलेट ले लिया।

उस दिन सारे कैम्प में सुन्दरलाल और उसके हँसमुख स्वभाव तथा उसकी दरियादिली की चर्चा होती रही और उसे सुन-सुन कर ऊषा आप-ही-आप शर्माती रही और उसका दिल गाता रहा—'वह मेरा है!'

रात को उसने अपने माता-पिता को भी उसकी बातें करते सुना। माँ कह रही थी—क्यों जी, लगता है कि यह सुन्दरलाल हमारी ऊषा को काफ़ी पसन्द करता है। अगर ऐसा हो जाय तो?"

उस रात खुशी के मारे ऊषा को नींद न आयी। सवेरा होते-होते आँख लगी भी, तो सपने में एक हँसमुख चेहरा शरारत-भरी नज़रों से उसे घूरता रहा, दो गोरी बाहें उसे अपनी गोद में लिये रहीं, पतले-पतले ओंठ उसके अधरों को चूमते रहे और नर्म-कोमल हाथों की उँगलियाँ अपने स्पर्श से उसके तन-बदन में बिजली दौड़ाती रहीं।

कुछ दिन में नींव की खुदाई आरम्भ हो गयी। पहले दिन ही से सुन्दरलाल को काम खत्म करवाने की जल्दी थी। वह हर काम अपनी निगरानी में करवाता, हर समय राज-मज़दूरों के सिर पर खड़ा रहता, उन्हें घड़ी भर भी काम रोकने का मौक़ा न देता।

अभी बुनियादें दो-दो फ़ीट ही गहरी खुदी थीं कि उसने हुक्म दे दिया कि बस काफ़ी है। अब दीवारों की चुनाई करो।"

ऊषा के पिता, जो मुल्तान में अपनी कई इमारतें बनवा चुके थे, बोले—"सुन्दरलालजी, दो फ़ीट गहरी बुनियाद तो काफ़ी नहीं होती।

सुन्दरलाल ने हँसकर, जवाब दिया—"आप तो पुराने ज़माने की बातें कर रहे हैं, भल्ला जी। आज सीमेंट की इमारतें नये ढंग से बनती हैं। उनके लिए दो फ़ीट की बुनियादें भी काफ़ी हैं।"

जैसे-जैसे बैरकों की दीवारें ऊँची होती गयीं, ऊषा और सुन्दरलाल का प्रेम भी बढ़ता गया, पर प्रेम-प्रदर्शन अभी केवल आँखों तक सीमित था। जब तक सुन्दर लाल काम की निगरानी के लिए कैम्प में मौजूद रहता, ऊषा की निगाहें उस पर लगी रहतीं। सुन्दरलाल को किसी चीज़ की ज़रूरत होती तो वह सीधे ऊषा के पास पहुँच जाता। उन्होंने फ़िल्मी हीरो-हिरोइन की तरह प्रेम के गीत न गाये, ठंडी आहें न भरीं, न आँसू बहाये, कभी एक-दूसरे से प्रेम प्रकट न किया, पर ऊषा जानती थी कि

सुन्दर उससे प्रेम करता है, और यह भी जानती थी कि सुन्दर को भी यह मालूम है कि वह भी उससे प्रेम करती है।

दीवारें पाँच-छः फ़ीट से भी ऊँची हो गयीं। गर्मी का मौसम और दोपहर का समय था। ऊषा स्कूल का काम ख़त्म करके अपने ख़ेमे की ओर आ रही थी। रास्ते में देखा कि बनती हुई बैरेकों के पास सुन्दर खड़ा मज़दूरों पर चिल्ला रहा है—"बस, बस, खाने की छुट्टी ख़त्म हो गयी! काम शुरू कर दो।"

'इसमें कोई संदेह नहीं कि वह मज़दूरों से बड़ी सख़्ती से काम लेता है,' ऊषा ने सोचा, 'पर वह ख़ुद भी तो कभी आराम नहीं करता। इसी समय देख लो। दोपहर के एक बजे धूप में यहाँ खड़ा काम की निगरानी कर रहा है। सिर पर हैट भी नहीं पहनता। धूप और गर्मी से इन कुछ महीनों में रंग भी साँवला पड़ गया है। पर खाकी नेकर पहने, काला धूप का चश्मा लगाये, खुले गले की कमीज़ पहने वह कितना अच्छा लगता है।'

पास पहुँचकर उसने धीरे से कहा—"आप क्यों इतनी मेहनत कर रहे हैं? बैरकें बन ही जायँगी। आख़िर इतनी जल्दी क्या है?"

वह चश्मा उतारकर मुस्कराया। कितना प्रेम भरा था उस मुस्कराहट में! रूमाल से माथे का पसीना पोंछ कर वह बोला—"तुम नहीं जानतीं ऊषा!" अब वह 'मिस भल्ला' से ऊषा हो गयी थी! "मुझे बहुत जल्दी है।" और फिर ताँबे की तरह तपते हुए आकाश को देखकर कहा—"जानती हो, महीने डेढ़ महीने में बरसात आने वाली है। उस वक्त तक अगर ये बैरकें तैयार न हुईं तो तुम लोगों का इन ख़ेमों में क्या हाल होगा! यह सारा मैदान एक बड़ा तालाब बन जायगा।

मैं चाहता हूँ, ये सब शरणार्थी और विशेषकर तुम्हारे घर वाले—और तुम—जल्दी से जल्दी खेमों को छोड़ कर बैरकों में आ जाओ। जानता हूँ कि मैं इन मज़दूरों पर सख़्ती कर रहा हूँ, पर यह सब शरणार्थी भाइयों की ख़ातिर है—तुम्हारी ख़ातिर !"

ऊषा का मन गुनगुना रहा था, 'कितना अच्छा ! कितना प्यारा !' उसने कहा—"अच्छा, अब हमारे यहाँ चल कर मुँह-हाथ धो, ठंढे हो जाइए। अगर कोई आपत्ति न हो तो दाल-रोटी, पराठे खा लीजिए !

सुन्दर ने कहा "मुझे तुम्हारे यहाँ की दाल-रोटी पराठे, कबाब से ज़्यादा पसन्द हैं !"

एक दिन बैरकें तैयार हो गयीं। सारे कैम्प में वह दिन कितने आनन्द का था, जब सब शरणार्थी खेमों को छोड़ कर पक्के कमरों में आये। कितने तो ऐसे थे, जिन्होंने साल भर के बाद पहली बार ईंट-पत्थर के मकान में कदम रखा था। बहुतों की आँखों में आनन्द के आँसू थे। बच्चे बरामदों में भागते-दौड़ते फिर रहे थे। स्त्रियाँ अपने-अपने कमरों में रसोई की पक्की जगह को ठीक-ठाक कर रही थी।

ऊषा अपने नये कमरों में सामान रख रही थी कि दरवाज़ा खुला और सुन्दर दाख़िल हुआ। "कहो ऊषा, ये मकान पसन्द आये ?"

"बहुत अच्छे हैं," ऊषा के पिता ने जल्दी से जवाब दिया।

माँ ने कहा —"बेटा, यह सब तुम्हारी मेहरबानी है, नहीं तो यह बरसात डेरों-खेमों में ही बीतती !"

"चलो, ऊषा अपना स्कूल देख लो।"

ऊषा ने माँ की ओर देखा और माँ ने ऊषा के पिता की ओर। पिता ने कहा—"हाँ,हाँ,क्या हर्ज है ! ज़रूर देख आओ। हम इतने

में चीज़ें ठीक-ठाक कर लेते हैं। फिर, सुन्दरलाल जी, आज आप ज़रूर यहाँ चाय पीकर जायँ।"

स्कूल सचमुच बड़ा सुन्दर बना था। कम-से-कम तम्बू की अपेक्षा तो महल ही लगता था। छोटे-छोटे बेंच और डेस्क भी लगे हुए थे। हेडमिस्ट्रेस यानी ऊषा के लिए एक पालिश की हुई मेज़ और कुर्सी भी थी।

"यह सब तुम्हारी भेंट है!"

खुशी के मारे ऊषा की आँखों में आँसू उमड़ आये।

"आओ, एक और चीज़ दिखाऊँ।"

सड़क के किनारे एक मोटर खड़ी थी—लम्बी, काली, चिकनी, शानदार मोटर!

"यह किसकी है!...आप की?"

"तुम अपनी ही समझो! इस ठेके के मुनाफ़े से आज ही ख़रीदी है।"

एक हल्का-सा संदेह ऊषा के दिमाग़ में कुलबुलाया।

"पर आपने तो बहुत नीचा टेंडर दिया था। मैं तो समझी थी कि मुनाफ़ा होगा ही नहीं।...और फिर यह स्कूल?"

"जब कोई काम अच्छी नीयत से किया जाय तो भगवान उसमें ज़रूर बरकत देता है और फिर मेहनत भी तो कितनी की है मैंने।"

एकाएक ऊषा को गर्मी की वह दोपहर याद आ गयी, जब वह धूप में खड़ा मज़दूरों की निगरानी कर रहा था और उसके सँवलाये चेहरे पर पसीना बह रहा था। बाद में जब ऊषा ने अपने ख़ेमे के बाहर स्वयं पानी डाल कर उसका मुँह धुलवाया था तो उसके तमतमाते

हुए शरीर से गर्म-गर्म सुगन्ध का एक भभका उठा था, जो आज तक ऊषा के मस्तिष्क पर छाया हुआ था।

"आओ, बैठो! मैंने तय कर रखा है कि इस मोटर में सब से पहले तुम सवार होओगी।"

ऊषा मोटर में बैठ गयी। कितनी सुन्दर और आराम-देह थी वह मोटर! देखने में कोमल और चलने में तेज़—जैसी कोमलता और शक्ति सुन्दरलाल के व्यक्तित्व में थी। सुन्दरलाल रोज़ की तरह मोटर चलाते हुए सड़क की ओर देख रहा था, पर ऊषा उसे देख रही थी। आज वह खुश थी, क्योंकि शरणार्थियों को रहने के लिए पक्के मकान मिल गये थे, स्कूल के बच्चों को नया स्कूल, सुन्दरलाल को नयी मोटर और खुद उसको सुन्दरलाल मिल गया था। आसमान पर हल्के-हल्के बादल छाये हुए थे। हवा में शाम की ठंडक पैदा हो चुकी थी। सड़क समतल थी और मोटर के गद्दे नर्म और लचकदार। उस समय दुनिया में सुख-ही-सुख, आनन्द-ही-आनन्द था। ऊषा ने आँखें बन्द कर लीं और अपने-आप को आनन्द की धारा में बहने के लिए छोड़ दिया।

जब उसकी आँख खुली, तो हल्का-हल्का अँधेरा छाया हुआ था और मोटर सड़क के किनारे रुकी खड़ी थी, पेड़ों और खंडहरों से घिरी हुई। शायद एक-दो फ़र्लांग पर कुतुब की लाट धुँधली-धुँधली दिखायी दे रही थी। ऊषा ने जवानी के नशे में मस्त आँखें खोलीं, तो सुन्दर के मुस्कराते हुए चेहरे को अपने इतने निकट पाया कि वह उसकी गर्म-गर्म साँस का स्पर्श अपने गालों पर महसूस कर सकती थी।

"ऊषा, तुम जानती हो कि मैं तुमसे क्या कहना चाहता हूँ?"

उसने सिर हिला कर जवाब दिया—"हाँ।"

"तो फिर कहूँ कि मुझे तुम से..."

पर उसने आगे कुछ कहने से रोक दिया। तुम्हें कुछ कहने की ज़रूरत नहीं।"

"तो तुम जानती हो?"

उसने सिर हिला कर स्वीकार किया—"हाँ!"

"और तुम भी?"

और ऊषा ने शर्मा कर गर्दन झुका ली।

और अगले क्षण सुन्दर की गर्म साँसों का स्पर्श ऊषा ने अपने गालों पर से होता हुआ ओंठों तक आता महसूस किया।

उस क्षण ऊषा ने अपने सुन्दर स्वप्नों और अपनी छिपी हुई कामनाओं का निचोड़ पा लिया। उस क्षण उसने आकाश तक उड़ान भरी और वहाँ से अपने बालों में लगाने के लिए तारे तोड़ लायी। उस क्षण दुनिया के सारे साज़ एक साथ झनझना उठे। उस क्षण सुन्दर और ऊषा के दो व्यक्तितत्व एक हो गये। ऊषा का विचार अब विश्वास बन गया कि वह सुन्दर के बिना जी नहीं सकती और उसके हृदय की धड़कन में एक ही आवाज़ गूँजती रही—'वह मेरा है! वह मेरा है!'

जब वे कैम्प लौटे तो दिये जल चुके थे। मोटर रुकी तो देखा कि एक आदमी खाकी ब्रिचेस, कोट और हैट पहने, अपनी मोटर सायकिल स्टार्ट करने का प्रयत्न कर रहा था।

"हलो, सुन्दर साहब!" वह वहीं से चिल्लाया, कड़े और भद्दे स्वर में।

ऊषा ने अनुभव किया कि सुन्दर को उस व्यक्ति से उस समय मिलना कुछ बुरा-सा-लगा। अच्छी खासी कोफ़्त हुई और होनी भी चाहिए थी। अभी-अभी रास्ते में उन दोनों ने तय किया था कि सुन्दर तुरन्त ऊषा के माता-पिता से बात करेगा और जितनी जल्दी सम्भव होगा, उनका विवाह हो जायगा, पर यह कम्बख़्त न जाने कहाँ से टपक पड़ा ?

"क्यों, इंस्पेक्टर क्या बात है ?" सुन्दर ने मोटर से उतरते हुए पूछा।

"बात क्या होती ? आप ही के काम से आया था, पर मोटर सायकिल खराब हो गयी। खैर, अब आपके साथ ही लौट चलता हूँ। रास्ते में काम की बात भी हो जायगी।"

"वैसे सब कुछ देख लिया न ? सब ठीक है ?"

"अजी, मेरे होते क्या खराबी आ सकती है ? आप किसी बात की चिन्ता न करें। मैं सब सँभाल लूँगा।"

ऊषा की समझ में कुछ न आया कि वे किस मामले पर बात कर रहे हैं। वह इंस्पेक्टर पुलिस वाला तो लगता न था। सुन्दर का कोई दोस्त भी हरगिज़ नहीं था। फिर न जाने क्यों सुन्दर उससे ऐसे बात कर रहा था मानो उससे डरता हो। या हो सकता है कि यह उसका केवल संदेह हो।

"तो फिर चलिए, सुन्दर साहब।"

यह कहकर वह इंस्पेक्टर, जो पुलिस का इंस्पेक्टर नहीं था, मोटर में बैठ गया।

"अच्छा, ऊषा, तो अब मैं जाता हूँ। तुम्हारे पिता जी से कल मिलूँगा। उनसे आज न आने की माफ़ी माँग लेना और कहना कि

कल की चाय ज़रूर यहाँ पिऊँगा। और हाँ, तुम कल दोपहर को आना। लंच एक साथ खायेंगे उसी रेस्तराँ में, भूलना मत !"

मोटर चल दी और जल्द ही धूल के बादल में खो गयी।

ऊषा कैम्प की तरफ़ चल पड़ी। हर तरफ़ रोशनी हो रही थी मानो दिवाली हो। ठंडी हवा चल रही थी। वह खुश थी। आज उसके जीवन का सबसे सुन्दर, सब से सुखमय दिन था। पर उसके दिल में एक अजीब और अज्ञात संदेह का नन्हा कीड़ा क्यों कुलबुला रहा था ?

अगले दिन वह एक बजे से कुछ पहले ही सुन्दरलाल के दफ़्तर पहुँच गयी। चपरासी ने नित्य की अपेक्षा आज बड़े तपाक से उसका स्वागत किया, कहा—"साहब कोई ज़रूरी बात कर रहे हैं। आपको बैठने को कहा है।"

ऊषा बाहर के कमरे में बैठ कर एक पत्रिका के पन्ने उलटने लगी।

अन्दर के कमरे का दरवाज़ा कुछ खुला रह गया था और दो आदमियों के ज़ोर-ज़ोर से बोलने की आवाज़ें आ रही थीं। एक आवाज़ सुन्दर की थी। पर दूसरी आवाज़ ? वह भी जानी-पहचानी मालूम होती थी। कहाँ सुनी थी उसने वह आवाज़ ?

सुन्दर गुस्से में मालूम होता था। उसके ज़ोर से बोलने की आवाज़ आ रही थी। वह कह रहा था—"बीस हज़ार ? दिमाग़ ख़राब हो गया है तुम्हारा ? पाँच हज़ार दूँगा। लेना हो तो लो, नहीं तो चलते-फिरते नज़र आओ।"

ऊषा ने सोचा कि अवश्य ही किसी बदमाश ने बेचारे सुन्दर को धोखा दिया। काम किया होगा पाँच हज़ार का और उसको सीधा और

शरीफ़ समझकर, अब बीस हज़ार वसूल करने की फ़िक्र में है। शायद कोई ईंटों के भट्टे वाला या लकड़ी का सौदागर होगा। पर अगले ही क्षण उसे मालूम हो गया कि वह दूसरी आवाज़ वाला कौन था और सुन्दर से बीस हज़ार काहे के माँग रहा था।

अन्दर से आवाज़ आयी—"सुन्दर साहब, तुम्हें पूरे एक लाख का मुनाफ़ा हुआ है इन बैरकों के ठेके में। अगर मैं इन्हें पास न करता, तो तुम्हें कौड़ी न मिलती! अब बीस हज़ार देते तुम्हारी जान निकलती है?"

ऊषा ने मन में भगवान से प्रार्थना की, 'काश, मेरे कान जो सुन रहे हैं, वह झूठ हो! यह मेरे कानों का दोष हो!' पर अन्दर से उस मोटर साइकिल वाले बिल्डिंग इंस्पेक्टर की आवाज़ बार बार आ रही थी और ऊषा के संदेहों को विश्वास में बदल रही थी और उसके विश्वास उसके मन के सुख को मिट्टी में मिला रहे थे।

वह कह रहा था—"दो-दो फ़ीट गहरी बुनियादें, सीमेंट के बजाय रेत, कच्ची-पक्की ईंटें, छतों के लिए दीमक लगी लकड़ी की कड़ियाँ... तुमने जैसा काम किया है, मैं हा जानता हूँ!...बोलो कर दू रिपोर्ट!"

सुन्दर की आवाज़ अजीब बौखलायी हुई थी। वह कह रहा था—"नहीं-नहीं, पागल हुए हो! पर सोचो, करता क्या! टेंडर इतना नीचा दिया था और किसी तरह मुनाफ़े की कोई सूरत ही न थी।"

ऊषा ने उनकी बातें समाप्त होने की राह नहीं देखी। वह उठकर चलने लगी।

चपरासी ने घबरा कर पूछा—"आप कहाँ जा रही हैं? साहब पूछेंगे तो मैं क्या कहूँगा।"

और ऊषा ने कहा—"कह देना कि उनकी तबीयत खराब हो गयी, इसलिए चली गयीं।"

उसकी तबीयत अकस्मात ख़राब हो भी गयी थी। सिर चकरा रहा था और न जाने क्यों जी मचला रहा था।

उसी शाम को बारिश शुरू हो गयी। मूसलाधार बारिश में ही वह ऊषा से मिलने आया, पर उसने उससे कोई बात नहीं की। सिर-दर्द का बहाना किये वह पलंग पर पड़ी रही।

दूसरे दिन वह फिर आया, पर वह उस समय स्कूल में पढ़ा रही थी। बाहर मोटर में बैठा, वह उसकी प्रतीक्षा करता रहा। जब स्कूल खत्म होने की घंटी हुई, तो उस समय थोड़ी देर के लिए बारिश थमी हुई थी। केवल बूँदा-बाँदी हो रही थी। सुन्दर ने रास्ता रोककर, उसे बात करने पर मजबूर कर दिया।

"आओ, ऊषा एक मिनट के लिए मोटर में बैठ जाओ। मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ।"

औरों के सामने झगड़ा करने से बचने के लिए, वह मोटर तक आने को राज़ी हो गयी।

"ऊषा, तुम्हें कल से क्या हो गया है? दफ़्तर से एकाएक चली आयीं, रात मुझसे बात भी न की। मैं तुम्हारे पिता से शादी की बात करने आया था..."

"आप पिता जी से कोई बात न करें!"

"मगर क्यों? हुआ क्या? परसों तक तो तुम मुझे पसन्द करती थीं, मुझसे प्रेम करती थीं। कल से क्या हो गया?"

"कल आप जो बातें बिल्डिंग इंस्पेक्टर से कर रहे थे, वे मैंने सुन लीं!"

"बस इतनी-सी बात !" कहकर, वह अपने उसी विशेष मासूम अन्दाज़ में हँस पड़ा। "पर ऊषा, मैं किसी से रिश्वत नहीं ले रहा था। वह बदमाश उल्टे मुझसे रिश्वत माँग रहा था।"

लेकिन किस लिए ? इसलिए न कि आपने इस बिल्डिंग में रद्दी माल इस्तेमाल कर के मुनाफ़ा कमाया है और उस इंस्पेक्टर से इमारत पास करा ली है ?"

"ठीक है। लेकिन (उसके चेहरे पर बनावटी नहीं असली आश्चर्य था।) ...लेकिन इसमें तुम्हारे नाराज़ होने की क्या बात है ? तुम किस बात पर बिगड़ी हुई हो !"

"मैं आपको क्या समझती थी और आप क्या निकले ! मैं एक बेईमान आदमी से शादी नहीं कर सकती !"

"बेईमान !" और वह फिर हँसा, पर इस बार उसकी हँसी में निर्दोषता नहीं थी, एक नयी कठोरता, एक नयी कटुता थी। "यह बेईमानी नहीं है, ऊषा। यह 'बिज़नेस' है। कारबार और व्यापार का यही ढंग है। हर आदमी मुनाफ़े की ख़ातिर यही करता है।"

"लेकिन मैं आपको 'हर आदमी' नहीं समझती थी। मैं आपको औरों से ऊंचा और अच्छा समझती थी।"

"अब मैं तुम्हें रुपये कमाने के ढंग क्या सिखाऊँ ! लेकिन छोड़ो न इस झगड़े को। मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। ऊषा, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। यह धन जो कुछ कमाया है या कमा रहा हूँ, बस तुम्हारे लिए है। तुम भी दिल पर हाथ रखकर सच-सच बताओ, क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं।

उस समय बादल ज़ोर से गरजे और ऊषा एकाएक डर से उछल पड़ी। पर उसके मुँह से कोई शब्द न निकला। बारिश फिर शुरू हो गयी।

"ऊषा! बोलो। जवाब क्यों नहीं देतीं? ऊषा! ऊषा!"

ऊषा मोटर से उतर कर चली आयी। उसने कोई जवाब न दिया। वह चाहती थी कि जवाब दे—कहे, 'नहीं सुन्दर, मैं तुमसे प्रेम नहीं, नफ़रत करती हूँ, नफ़रत!' पर वह यह जानती थी कि यह झूठ है। वह अब भी उससे प्रेम करती थी।

सात दिन से बारिश हो रही थी। पर ऊषा के मन की आग उसी तरह सुलग रही थी। एक कठिन, मौत और ज़िन्दगी का सवाल अब भी उसे परेशान किये हुए था। क्या वह ऐसे आदमी से प्रेम कर सकती है, जिसके लिए उसके मन में कोई आदर का भाव न हो? और क्या वह ऐसे आदमी को ठुकरा सकती है, जिससे उसे प्रेम हो! प्रेम इज्ज़त, नफ़रत, ईमानदारी, बेईमानी, व्यापार, लाभ, इन तमाम मूल्यों के गोरखधन्धे में वह ऐसी फँसी थी कि अब निकलते न बन पड़ता था।

पर इतने दिन तक सुन्दर से न मिलने के बाद भी वह इस भयंकर सत्य से इनकार न कर सकती थी कि वह अब भी सुन्दर से प्रेम करती है, भयानक हद तक उसको चाहती है—उसको, उसके सुन्दर चेहरे को, उसके युवा शरीर को, उसकी साँस के स्पर्श को, उसके ओठों को और उसके चुम्बनों को। मस्तिष्क के इस निर्णय के बावजूद कि वह किसी ऐसे व्यक्ति से प्रेम नहीं कर सकती, जिसकी वह इज्ज़त न कर सकती हो, जो बेईमानी और पैसे का लोभी हो, ऊषा का हृदय सुन्दर की चाह से भरपूर था!

बारिश और तेज़ हो गयी और खिड़की में से आती हुई बौछार ने ऊषा के चेहरे को ही नहीं, उसके शरीर को भी भिगो दिया। उसे सर्दी से हल्की-सी झुरझुरी आयी और वह खिड़की से दो कदम पीछे हट गयी। पर इस बार बारिश ने उस पर ऊपर से हमला किया। एक-के-बाद-एक मैले पानी की कितनी ही बूंदे उस पर छत से टपकीं। उसने ऊपर नज़र उठायी तो देखा कि छत छलनी बन चुकी है, दस-बारह जगह से टपक रही है। दीवारों पर सील के धब्बे भी अब कोढ़ के नासूरों की तरह बढ़ते जा रहे हैं.....

उसकी माँ घबड़ा कर कभी दीवारों को देखती थी, कभी छत को। 'हे भगवान, अब क्या होगा ?'

उसी समय धड़ से दरवाजा खुला। ऊषा ने घूम कर देखा। पानी में नहाया हुआ सुन्दर वहाँ खड़ा था। भीगे कपड़ों में भी वह कितना अच्छा लगता था ! उसके गीले बाल उसके माथे पर फैले हुए थे। उसके चेहरे पर वही पुरानी निर्दोषिता थी।

"ऊषा जल्दी करो ! तुम सब मोटर में मेरे घर चलो !" और फिर ऊषा के माता-पिता को सम्बोधित कर सुन्दर बोला—"सब चीजें छोड़ कर आ जाइए ! वक्त बिलकुल नहीं है।"

और घबराहट में किसी ने यह भी नहीं पूछा कि हुआ क्या। आख़िर इतनी जल्दी काहे की ? ख़तरा क्या है ? ऊषा के माता-पिता और बहन को इस टपकती छत से छुटकारा पाने का वह अच्छा अवसर मिला। और ऊषा ? उसके लिए तो यही काफ़ी था कि सुन्दर उससे कह रहा है—'मेरे घर चलो।'

भीगते हुए, घुटनों-घुटनों पानी में चलते हुए वे सड़क पर मोटर तक आये और अब पहली बार उन्हें मालूम हुआ कि सुन्दर इतनी जल्दी क्यों कर रहा था। भयभीत नेत्रों से उन सब ने ऊपर देखा—दक्षिण-पूर्व की ओर अंतिम बैरक अब अपनी जगह पर नहीं थी। उसके स्थान पर केवल ईंट-मिट्टी का एक ढेर था। रात के धुँधलके में कुछ अभागे मिट्टी और ईंटों को कुरेद रहे थे। और कुछ स्त्रियों और बच्चों के रोने की आवाज़ बारिश के शोर को चीरती हुई आ रही थी।

"ऊषा! ऊषा! जल्दी करो! बारिश में क्यों भीग रही हो?" सुन्दर की आवाज़ गूँजी।

पर ऊषा ने उसे नहीं सुना। वह गिरी हुई बैरेक की ओर बेतहाशा भागी जा रही थी। सुन्दर उसके पीछे दौड़ा और कुछ ही दूर जाकर उसे पकड़ लिया। "क्या पागल हो गयी हो, ऊषा? ये इमारतें ख़तरनाक हैं। तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं।"

ऊषा ने घूम कर सुन्दर की ओर देखा, पर जैसे उसे पहचाना नहीं। अँधेरी रात और बारिश में उसके शरीर का धुँधला-धुँधला खाका ही नज़र आ रहा था। न जाने क्यों उस अँधेरे में ऊषा को ऐसा लगा, जैसे पहली बार अँधेरा दूर होकर उसे साफ़ नज़र आ रहा हो। यह वह सुन्दर नहीं, जिसे वह जानती थी, चाहती थी।

अपनी बाँहें छुड़ाती हुई वह चिल्लायी—"मुझे छोड़ दे हत्यारे!"

और इस एक शब्द 'हत्यारे' में सुन्दर पर ही नहीं, बल्कि उसके

'बिज़नेस' पर, उसके जीवन और उसके समाज पर मृत्युदंड का आदेश था !

उस क्षण ऊषा ने अपने अन्दर कोई चीज़ टूटती हुई महसूस की। पर यह उसका हृदय नहीं, केवल धोके के प्रेम का वह बन्धन था, जिसमें अब तक उसका हृदय बँधा था। और अब वह स्वतन्त्र थी।

सुन्दर ने सहानुभूति प्रकट करने की चेष्टा की—"मुझे दुख है कि तुम्हारा स्कूल..."

वह अपना वाक्य पूरा न कर सका। ऊषा ने उसे इस प्रकार घूर कर देखा कि उसकी आवाज़ जम कर रह गयी।

ऊषा ने मुँह से कुछ न कहा, पर उसकी ख़ामोश निगाह कह रही थी—'यह मेरा स्कूल नहीं, सुन्दर ! यह तुम्हारा समाज है, तुम्हारा 'बिज़नेस' है। इसकी बुनियादें खोखली हैं, इसकी छत की कड़ियों में दीमक लगी हुई है। वह देखो...वह देखो... तुम्हारे समाज के घिरौंदे गिर रहे हैं !...बचाओ उन्हें, सुन्दर, बचाओ !...

धमाके के साथ एक और बैरक के कई कमरों की छत गिर पड़ी। स्त्रियों और बच्चों के रोने की आवाज़ें और ऊँची हो गयीं। पर इस बार भय-मिश्रित शोर के साथ एक नया शोर भी था—एक अजीब जोशीला शोर, जो मूसलाधार वर्षा के शोर से भी अधिक ऊँचा था।

शरणार्थियों का गिरोह अपनी बैरकों से निकल कर भीगता हुआ आ रहा था। वे जुलूस बना कर चल रहे थे, नारे लगा रहे थे। एक स्त्री अपने बच्चे की लाश बाँहों पर उठाये हुए चल रही थी, पर उसकी आँखों में आँसू नहीं थे। वे सरकारी मंत्रियों के दरवाज़े

खटखटाने जा रहे थे। उनकी आवाज़ों में गुस्सा था और एक नया संकल्प।

ऊषा ने सुन्दर की ओर देखा और धीरे से बोली, जैसे कोई बड़ी रहस्यपूर्ण बात कह रही हो—"देखा तुमने किस तरह बरसात में पानी की नन्हीं बूँदें मिल कर तूफ़ान बन जाती हैं और बड़ी-बड़ी इमारतों को उखाड़ फेंकती हैं।" और यह कहकर वह भी उस जुलूस में शामिल हो गयी, जो तूफ़ान से गुज़रता हुआ, एक नये तूफ़ान की ओर जा रहा था।

दारोग़ा साहब

"दारोग़ा साहब !" एक कान्स्टेबल ने अदब से सलाम करते हुए कहा।

"क्या है ?"

"हुज़ूर ! उस आज़ाद के बच्चे ने नाक में दम कर दिया है। अब तक तो उसने अपने साथियों के नाम बताये नहीं हैं। कहिए तो एक बार फिर कोशिश कर देखूँ।"

"हाँ, एक-आध घंटे में हाज़िर करो।"

कान्स्टेबल सलाम करके चला गया। दारोग़ा साहब ने पानों की डिबिया खोली। एक पान खाया और सोच में पड़ गये। एक हफ़्ते से इस आज़ाद ने उनका आराम हराम कर रखा था। रात-दिन यही फ़िक्र रहती कि किसी तरह उससे साथियों के नाम-पता

लगाये जायँ। मगर तमाम कोशिशें बेकार साबित हुईं। पहले मामूली तरह से पूछा। फिर माफ़ी और इनाम का लालच दिखाया। इस पर भी उसकी ज़बान न खुली तो थोड़ी बहुत मरम्मत की गयी। आख़िर में तंग आकर और सख़्ती की। जूतों से पिटवाया। काल कोठरी में बन्द किया। उलटा लटकवाया। मगर वहाँ एक 'नहीं' के अलावा दूसरा जवाब न था। दारोग़ा साहब अपने रौब और दबदबे के लिए तमाम सूबे में मशहूर थे। मुलज़िमों की ज़बान खुलवाने की उनको वह वह तरकीबें याद थीं कि दूर-दूर के थानेदार उनसे मशविरा करने आते थे। सख़्त से सख़्त मुजरिम उनके नाम से काँपता था, मगर यह आज़ाद अजब सख़्त-जान था। जब उस पर तमाम तरकीबें बेकार साबित हुईं तो दारोग़ा साहब ने अपने तरकश का आख़िरी तीर इस्तेमाल किया जो उसकी तरह कमज़ोर और पढ़े-लिखे राजनीतिक कैदियों के लिए ख़ासतौर से ईजाद किया गया था। कुछ दस नम्बर के बदमाशों को बुलवाकर उनको कुछ खुफ़िया तौर से बतलाकर एक-एक बोतल ठर्रे की दी गयी और जब उन पर ख़ूब नशा चढ़ गया तो उनको भी आज़ाद के साथ बन्द कर दिया। रात भर में उन्होंने आज़ाद को मार-मार कर अधमरा कर दिया। हर घंटे के बाद जब पहरेदार ने पूछा—"क्यों, अब भी अपने साथियों के नाम न बतायगा?" तो यही जवाब मिला—"मरने के पहले तो नहीं।"

आज़ाद की इस ज़िद को कैसे तोड़ा जाय? रात-दिन यह सवाल दारोग़ा साहब के दिमाग़ में चक्कर काटता था। देखने में कमबख़्त दुबला-पतला कमज़ोर-सा नौजवान था, मगर उसके ख़िलाफ़ इलज़ाम इतना संगीन था और उसके साथियों के नाम इस क़द्र ज़रूरी थे कि दारोग़ा साहब की सख़्त बदनामी होती अगर उससे

कबूल न कराया जाता। कई महीने से उसके खिलाफ रिपोर्टें आ रही थीं कि वह और इसके साथी किसानों में बग़ावत फैला रहे हैं। बावजूद यूनिवर्सिटी के एक ग्रेजुएट होने के आज़ाद ने एक गाँव में रहना पसंद किया था। मानपुर, जहाँ वह रहता था, एक छोटा सा गाँव था। मुश्किल से एक हज़ार की आबादी होगी। सिर्फ़ आज़ाद ही एक पढ़ा-लिखा आदमी वहाँ रहता था। उसने जाते ही गाँव में एक स्कूल खोल दिया। दिन में बच्चों को और रात को बड़ी उम्र के किसानों को पढ़ाता। शुरू-शुरू में गाँव वाले उससे डरे रहे, लेकिन जल्द ही उसने अपने स्वभाव और सेवा से सबको मुग्ध कर लिया था। किसी को लिखवाने या पढ़वाने की ज़रूरत होती तो आज़ाद के पास आता। किसी को चोट लग जाती तो वह अपने दवाई के बक्स समेत मदद को पहुँच जाता। धीरे-धीरे उसने किताबी पढ़ाई-लिखाई के अलावा गाँव वालों को सफ़ाई, स्वास्थ्य और व्यायाम की भी शिक्षा देनी शुरू की। यहाँ तक तो उसके काम पर किसी ने एतराज़ न किया, गोकि पुलिस के रजिस्टर में उसका नाम मुश्तबा राजनीतिक कार्य-कर्त्ताओं की फ़ेहरिस्त में पहले ही शामिल था। लेकिन कुछ अर्से के बाद उसके खिलाफ़ शिकायतें आने लगीं। गाँव के महाजन रामलाल को उससे शुरू ही से चिढ़ थी, इसलिए कि वह किसानों को कर्ज़ा लेने के ख़िलाफ़ भड़काता था। और अगर किसी को कर्ज़ा लेना होता तो वह उसके साथ महाजन के घर तक जाता और अपने सामने बाक़ायदा रसीद वग़ैरह लिखवाता। इसके पहले अनपढ़ किसान हमेशा महाजन की लिखी हुई रसीद पर आँख बन्द करके अँगूठे का निशान बना देते थे और अपनी किस्तों की रसीद माँगने का तो उन्हें ख़याल भी न आया था। लेकिन आज़ाद ने उनको महाजन के सब हथकंडों

से वाकिफ़ कर दिया था, जिससे उसकी आमदनी पहले से आधी भी न रही थी।

बशीर खाँ पटवारी भी आज़ाद से खुश न था। जब से उसने गाँव के मामलों में दख़ल देना शुरू किया था, किसानों से लगान पानी का महसूल वग़ैरह के सिलसिले में रिश्वत लेना मुश्किल हो गया था। आज तक इस किस्म की आमदनी को वह अपना पैदाइशी हक़ समझता था और गाँव वाले भी उसको खुश रखने ही में अपनी ख़ैरियत समझते थे। लेकिन अब...! अब तो वह उससे एक नये और अजीब अंदाज़ में बात करते थे। एक दिन तो हद हो गयी। बुधुआ किसान से जब उसके लगान की अदायगी के सिलसिले में नज़राना माँगा गया तो वह बोला, "पटवारी जी, अब वह दिन गये। तुम्हें सरकार से हमारी ख़िदमत की तनख्वाह मिलती है, नज़राना काहे वास्ते चाहिए?" बाद में मालूम हुआ कि इस बेअदब बात-चीत से एक घंटे पहले ही आज़ाद ने बुधुआ से बहुत देर तक बातें की थीं।

पंडित शिवप्रसाद भी, जो गाँव के मन्दिर का महन्त था, आज़ाद की मौजूदगी से खुश न था। उसको शिकायत थी कि वह नौजवान अछूतों को समाज के विरुद्ध उभारता है। मेहतरों का एक ख़ानदान था, जो हमेशा से गाँव की सफ़ाई का काम करता आया था। आज़ाद के कहने से उन मेहतरों ने महन्त, पटवारी, महाजन वग़ैरह के घरों की सफ़ाई के बदले में जूठा खाना लेने से इनकार कर दिया और उस वक्त तक काम न किया, जब तक अपनी माहवारी तनख्वाह मंज़ूर न करा ली। इसके अलावा आज़ाद ने गाँव वालों को समझा-बुझाकर उन मेहतरों के बच्चों को भी अपने स्कूल में दाख़िल कर लिया था, जहाँ वह बाकी लड़के-लड़कियों के साथ पढ़ते थे। और जब उन

मेहतरों ने महन्त से प्रार्थना की कि अगर उसके कथनानुसार वह भी हिन्दू जाति में हैं तो उनको भी मन्दिर में पूजा की इजाज़त है, तब तो शिवप्रसाद जी महाराज के क्रोध का अन्त न रहा।

मौलाबख़्श गाँव की अकेली मस्जिद का जाहिल मुल्ला था और महन्त से उसकी हमेशा अनबन रहती थी। दोनों गाँव के हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़का कर अपना उल्लू सीधा किया करते थे। मौलाबख़्श अगर अपनी बेटी की शादी के लिए मस्जिद की मरम्मत के नाम से रुपया जमा करता तो शिवप्रसाद फ़ौरन हिन्दुओं को नीचा दिखाता कि उनका मन्दिर क्यों न शानदार बनाया जाये ! ताकि उनके चन्दे से पंडतानी के लिए और ज़ेवर बन सकें। मगर आज़ाद के मामले में वह दोनों एक राय रखते थे कि उसके गाँव में रहने से उनका नुकसान है। मौलाबख़्श कहता था कि आज़ाद किसानों और उनके बच्चों को अंग्रेज़ी पढ़ाकर काफ़िर बना देगा। यह भी उसको कब गवारा था कि मुसलमान बच्चे हिन्दू बच्चों के साथ पढ़ें ! और लड़कियों के बारे में तो उसका विश्वास था कि पढ़ना-लिखना सीखकर वह प्रेमियों से पत्र-व्यवहार किया करेंगी और भूगोल सीखकर उनको घर से निकल भागने के रास्ते मालूम हो जायँगे।

तहसीलदार साहब और उनके कर्मचारी तो आज़ाद की मानपुर में मौजूदगी को निहायत ही ख़तरनाक समझते थे। उनका बस चलता तो उसको एक दिन भी तहसील में न रहने देते। ग़ज़ब ख़ुदा का ! जब दिसम्बर में नायब तहसीलदार दौरे पर गया तो गाँववालों ने उसके कैंप के लिए मुफ़्त रसद पहुँचाने से साफ़ इनकार कर दिया। कहने लगे कि साहब को जो घी, तरकारी चाहिए तो नक़द देकर ले जाओ। तहसीलदार साहब जब दिसम्बर में खुद दौरे पर गये और मानपुर में

टिके तो उनकी बेइज़्ज़ती इससे भी ज़्यादा हुई। जब उनकी मोटर गाँव में पहुँची तो सिवाय मुखिया, पटवारी, महाजन रामलाल, पंडित शिव-प्रसाद और मौलवी मौलाबख़्श के किसी गाँव वाले ने उनका स्वागत न किया। इससे पहले जब उनकी मोटर आती थी तो गाँव भर के गंदे, भूखे बच्चे उनकी मोटर को घेर लेते थे। अदब से फ़ासले पर कतार लगाकर सलाम करते और औरतें, अपने-अपने घरों से झाँककर 'तहसीलदार' और उनकी 'मोटरकार' के दर्शन करतीं। तहसीलदार साहब शान से उतरते, गर्दन के हल्के से इशारे से अपनी प्रजा के सलाम का जवाब देते, चार पैसे बच्चों के झुंड में फेंकते और उनका रिश्वत के माल से मोटा शरीर उनके सफ़ेद खेमे में ग़ायब हो जाता। लेकिन इस साल तहसीलदार को बहुत हैरानी हुई और हैरानी से ज़्यादा ग़ुस्सा आया जब उन्होंने देखा कि उनकी मोटर की आवाज़ ने कोई ख़ास हलचल पैदा न की। किसान अपने काम में लगे थे, औरतें या तो खेतों में रोटी लेकर गयी हुई थीं या अपने-अपने घरों में चर्खा कातने या रुई ओटने में लगी हुई थीं, लड़के और लड़कियाँ आज़ाद के स्कूल में पढ़ने गये हुए थे। मतलब यह कि तहसीलदार साहब ने गाँव की बेकारी की कमी और आत्म-सम्मान के इस प्रदर्शन को अपनी सख़्त बेइज़्ज़ती समझा। और जब उसी शाम को पटवारी, पंडित, महाजन और मौलवी जैसे गाँव के चार एक बड़े आदमियों ने एक आवाज़ से आज़ाद की शिकायत की और उसके घोर अपराधों की एक लम्बी लिस्ट पेश की, तो क्या वजह थी कि आज़ाद का काम बिला रुकावट जारी रहने दिया जाता?

कुछ रोज़ बाद ख़बर मिली कि किसानों के अगुओं की एक कान्फ्रेंस होने वाली है जिसमें दुर्भिक्ष पड़ जाने और वर्षा न होने

की वजह से लगान न अदा करने का फ़ैसला किया जायगा। पुलिस ने काफ़ी निगरानी रखी और पूछ-ताछ की, मगर उस कान्फ्रेंस के असल वक्त की खबर न मिली। कई दिन की कोशिश के बाद एक रात को सी० आई० डी० ने रिपोर्ट की कि उस वक्त आज़ाद के मकान पर किसानों के सब अगुआ जमा हैं और कान्फ्रेंस हो रही है। पुलिस ने छापा मारा। मगर न जाने कैसे वक्त से कुछ ही पहले आज़ाद के साथियों को इस धावे की ख़बर मिल गयी और वे रात के अँधेरे में चुपके से निकल गये। जब दारोग़ा साहब अपने जवानों को लेकर गये। तो सिवाय आज़ाद के, मकान में कोई न था। दाँत पीसकर रह गये। तलाशी ली तो काफ़ी काम के काग़ज़ मिले। लगान अदा न करने के आन्दोलन के बारे में पूरे प्रस्ताव मौजूद थे, जिनको पढ़कर आसानी से उस आन्दोलन को शुरू होने से पहले ही सरकार कुचल सकती थी। लेकिन आन्दोलन के अगुओं के नामों की लिस्ट न मिल सकी, जिसके बग़ैर आज़ाद पर साज़िश का जुर्म न लगता था। दारोग़ा साहब ने एक-एक कोना टटोल मारा, लेकिन कोई ऐसा काग़ज़ न मिला जिसमें आज़ाद के बाकी साथियों को पकड़ा जा सकता। मिलता भी कहाँ से ? जिस काग़ज़ की उनको तलाश थी वह तो आज़ाद उनकी आहट सुनते ही खा चुका था।

बड़े अफ़सरों के कहने से दारोग़ा साहब ने आज़ाद को गिरफ़्तार कर लिया और उसकी ज़बान खुलवाने के लिए अपनी तमाम मशहूर तरकीबों को इस्तेमाल कर दिया। उन आज़माई हुई तरकीबों के बेकार साबित होने पर वे परेशान थे।

अब कौन सी तरकीब करूँ ? यही सोचते-सोचते दारोग़ा साहब

ऊँघ गये। आज घर में बीवी ने काफ़ी स्वादिष्ट खाना पकाया था। उस पर गर्मी का मौसम, दोपहर का समय। ख़स की टट्टी लगी हुई थी। नींद आ ही गयी।

कुछ आहट हुई तो दारोग़ा साहब ने आँखें खोली। कमरे के दरवाज़े बन्द होने की वजह से ख़ासा अँधेरा था! कुछ नींद का नशा सताये था। धुँधला-धुँधला सा नज़र आता था, मगर दारोग़ा साहब पहचान गये कि जिसका इन्तज़ार कर रहे थे, वही है। आज़ाद के हाथों में हथकड़ियाँ थीं और सिपाही रस्सी पकड़े साथ था। उसके सौम्य चेहरे पर पिछले सात दिनों की तकलीफ़ों और मुसीबतों का असर साफ़ दिखायी पड़ रहा था। मगर वह अब भी मुस्करा रहा था। आज़ाद की दृढ़ता और ज़िद से ज़्यादा जो चीज़ दारोग़ा साहब को परेशान करती और गुस्सा दिलाती थी, वह उसका हरदम मुस्कराना था। यह मुस्कराहट, जिसमें आत्म-विश्वास के साथ दारोग़ा साहब की हरकतों के प्रति तिरस्कार भी था, तलवार से ज़्यादा घाव लगाने वाली और आग से ज़्यादा झुलसाने वाली थी। आज़ाद को मुस्कराते देखकर दारोग़ा साहब के दिमाग़ का पारा आसमान पर पहुँच गया। चीख़कर बोले—"देखता क्या है। मार जब तक यह अपने साथियों के नाम न बताये!"

सिपाही ने सूत की रस्सी को, जो उसके हाथ में थी, दोहरा करके कोड़ा-सा बना लिया और एक कदम पीछे हटा ताकि आज़ाद की पीठ पर पूरे ज़ोर से मार पड़ सके।

आज़ाद बराबर मुस्करा रहा था और उसकी नज़र दारोग़ा साहब पर गड़ी हुई थी। बजाय डर के दारोग़ा साहब को मालूम हुआ कि वह उनको तिरस्कार और दया की दृष्टि से देख रहा है।

सिपाही ने रस्सी के कोड़े को आज़माने के लिए हिलाया, अपने

हाथ और आज़ाद की कमर के बीच फ़ासले का अंदाज़ा किया और पूरी ताकत से वार किया।

दारोग़ा साहब के मुँह से एक चीख़ निकल गयी। मालूम होता था कोड़ा गोया उनकी ही कमर पर पड़ा है।

आज़ाद के चेहरे पर मुस्कराइट उसी तरह कायम थी।

सिपाही सिर झुकाये अपने काम में लगा रहा। धड़ाधड़, धड़ाधड़। वह आज़ाद की कमर पर बराबर कोड़े चला रहा था।

दारोग़ा साहब तकलीफ़ से चीख़ रहे थे। देखने में तो सिपाही आज़ाद की कमर पर वार कर रहा था, मगर हर वार की चोट उनकी कमर पर पड़ती थी।

और आज़ाद बराबर मुस्करा रहा था। मालूम होता था दारोग़ा साहब की तकलीफ़ पर हँस रहा है।

सिपाही ने यह देखकर कि आज़ाद पर उसकी मार का कोई ख़ास असर नहीं हो रहा है और ज़्यादा ताकत से कोड़ा चलाना शुरू किया।

दारोग़ा साहब तकलीफ़ से चीख़ते रहे। उनकी कमर कोड़ों की लगातार बौछार से फोड़े की तरह दुख रही थी।

सिपाही ने एक और भरपूर हाथ आज़ाद की कमर पर चलाया। दारोग़ा साहब से बरदाश्त न हो सका। मालूम होता था अगर एक भी और कोड़ा उनकी कमर पर पड़ा तो उनकी जान निकल जायगी।

"बस, बस!" दारोग़ा साहब बेतहाशा चीख़े, "बंद करो, बंद करो!" यह कहकर वह कुर्सी से उठना ही चाहते थे कि उनकी आँख खुल गयी।

कमरा खाली था। "तो क्या मैंने ख़्वाब देखा है?" उन्होंने सोचा, मगर उनका सारा शरीर पसीने से शराबोर था। और

कमर...? और कमर में चोट की तकलीफ़ से सख़्त दर्द हो रहा था।

परेशान होकर दारोग़ा साहब ने पीछे मुड़कर देखा। उनकी छोटी लड़की खड़ी उनकी कमर थपक रही थी। बाप की घबराहट देखकर बच्ची खिलखिलाकर हँस पड़ी।

बरामदे में कदमों की आहट हुई और सिपाही आज़ाद समेत दाख़िल हुआ। वह कमबख़्त अब भी मुस्करा रहा था।

"क्या हुक्म है, हुज़ूर!" सिपाही ने पूछा। दारोग़ा साहब ने एक हाथ से अपनी कमर को टटोला, दूसरे से चेहरे का पसीना साफ़ किया, ताकि परेशानी ज़ाहिर न हो। मगर उनकी आवाज़ भी काबू में न थी।

"क.....क..... क्या है! क.....कौन है?" सूबे का सबसे रौबदार दारोग़ा एक मुजरिम के सामने हकला रहा था। हाँ... यह आज़ाद साहब...इन...इन...इनको रिहा कर दो। साज़िश का कोई सबूत नहीं मिला।"

आज़ाद दारोग़ा साहब की परेशानी देखकर मुस्कराया, जैसे वह उसकी असल वजह से वाकिफ़ था।

सिपाही ने ख़याल किया कि दारोग़ा साहब के दिमाग़ पर गर्मी का असर हो गया है। मगर हुक्म की तामील में हथकड़ी खोल दी और आज़ाद के साथ बाहर चला गया।

दारोग़ा साहब ने अपनी बच्ची की तरफ़ मुड़कर देखा। वह अपने छोटे-छोटे हाथों से उनकी कमर फिर थपक रही थी, गोया एक अच्छे काम की शाबाशी दे रही हो।

उस दिन से दारोग़ा साहब के रौब का ख़ात्मा हो गया है और उनकी गिनती सूबे के सबसे नाकारा पुलिस-अफ़सरों में होती है।

आसमानी तलवार

आओ, बेटा, आओ। बाहर बारिश में क्यों खड़े हो? अन्दर आ जाओ, नहीं तो सर्दी लग कर बुखार चढ़ जायगा। जब तक पानी पड़ रहा है, तुम ग़रीब बुढ़िया की झोंपड़ी में आराम करो, फिर चले जाना...

भगवान की लीला न्यारी है, बेटा। जिस बरखा से धरती में जान पड़ती है, बीज कोंपल बनता है और कोंपल पौदा बनती है, वही बरखा बाढ़ बनकर हज़ारों की जान ले लेती है। जब गंगामाई बिफर जाती हैं, तो पूरे-पूरे गाँवों को बहाकर ले जाती हैं। यह सब हमारे कर्मों का फल है, और क्या? जैसा बोवोगे, वैसा ही काटोगे। यह थोड़ा ही है कि बीज तो डालो ज्वार के और फ़सल काटो धान की।

संसार में जो कुछ हो रहा है, भगवान शिव की आँख सब देखती रहती है और जब पाप और अन्याय हद से बढ़ जाते हैं तो वह आँख एक नज़र में सबको भस्म कर डालती है।

यों तो भगवान के लाखों हथियार हैं—एक से एक अनोखे। उसकी लाठी बेआवाज़ है, जब किसी पर पड़ती है तो पता भी नहीं चलता और अपना काम कर जाती है। पर सबसे ज़बर्दस्त हथियार भगवान ने इंद्र देवता को सौंप रखा है। और होना भी यही चाहिए, सारे देवी-देवताओं के वह राजा जो ठहरे। देवलोक में उनका ही हुक्म तो चलता है। सत्य की सेना को लेकर राक्षसों से भी उन्हीं को तो लड़ना होता है। सो ऐसे भयानक दुश्मनों का सामना करने के लिए हथियार भी भयानक होना चाहिए।

यह बिजली जो तुम बादलों में चमकते हुए देखते हो बेटा, यही इंद्र देवता की दोधारी तलवार है। इसकी चमक और कड़क बड़ों-बड़ों के दिल दहला देती है। पलक झपकते में अपने काम करके फिर आकाश पर इंद्र देवता के पास वापस पहुँच जाती है। अभी तो बादलों की गरज सुनते ही पापी काँपने लगते हैं!

इंद्र देवता की यह तलवार लोहे फ़ौलाद की बनी हुई नहीं है, बेटा! लोहे की तलवार को तो ज़ंग भी लग जाता है, धार खुंडी भी हो जाती है, टूट भी सकती है। पर यह निराला हथियार तो एक अनोखी ही धातु का बना हुआ है। कहते हैं कि एक बड़े पहुँचे हुए ऋषि ने भगवान की इतनी एकाग्रचित तपस्या की, इतनी तपस्या की कि उनके शरीर का सारा मांस झड़ गया; बस सूखी हड्डियों का ढाँचा रह गया। इन पवित्र हड्डियों से, जो हीरे की तरह सख्त और तेज़ और चमकती हुई थीं, भगवान ने एक तलवार बनायी और वह इंद्र देवता

को सौंप दी कि जहाँ कहीं पाप और अन्याय को बढ़ता हुआ देखें, इस आसमानी तलवार से उनको नष्ट कर दें।

यह तो तुमने सुना ही होगा, बेटा, कि बिजली काले साँप पर गिरती है। भला क्यों? इसलिए की ज़हरीले नाग पिछले जन्म में पापी और ज़ालिम थे, जिन्होंने दूसरों को डस कर दुख पहुँचाया और दुनिया में ज़हर फैलाया। उसी की तो यह सज़ा है कि इस बार भगवान ने उन्हें साँप के रूप में पैदा किया है। मगर बिजली सिर्फ़ साँपों पर ही नहीं, नीच और गंदे और विष भरे इंसानों पर भी गिरती है। भगवान शिव की आँख उजले कपड़ों, ऊँची पगड़ियों और अमीरी ठाठ-बाट से धोखा नहीं खाती। वह मन के भीतर की सारी अपवित्रता और खोट को देख सकती है। और जब इंद्र देवता की तलवार का वार पड़ता है तो वह ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की छाती चीरती हुई पापियों की गर्दन तक जा पहुँचती है।

तुम लोग पढ़े-लिखे हो, बेटा, एक पागल बुढ़िया की बात क्यों मानोगे। पर मैं भगवान की सौगंध खाकर कहती हूँ कि जो कुछ कह रही हूँ, सब सच है। यह तो अब याद नहीं कितने बरस की बात है, शायद बीस-पच्चीस-तीस बरस हुए होंगे। अब भी इस गाँव में बहुतेरे होंगे जिन्हें यह बात याद होगी। और अगर अपनी आँखों देखा सबूत चाहते हो तो तालाब के परे खेतों के बीच में जो नीम के पेड़ का ठूंठ खड़ा है, वह जाकर देख लो। किसी ज़माने में यह इतना बड़ा और घना पेड़ था कि बीस आदमी भी नीचे खड़े हो जायँ, तो उन पर एक बूँद बारिश की न गिरे। मगर उस दिन से आज तक इसकी शाखाओं में कभी हरियाली नहीं आयी—यूँ ही जला-भुना खड़ा है और आसमान की तरफ़ उँगली उठाये उस दिन की याद दिला रहा है...

वह बरखा मुझे आज तक याद है। इस बरस से भी कहीं ज़्यादा पानी बरसा था। यह कच्ची सड़क जो आगरे वाली पक्की सड़क से हमारे गाँव तक आती है, पूरी पानी से डूब गयी थी और आने-जाने वाले खेतों पगडंडियों पर से आते जाते थे। हम अछूतों की जो यह बस्ती गाँव के बाहर है, यहाँ कितने ही झोपड़ों की कच्ची ईंटों की दीवारें गिर पड़ी थीं। एक नन्हा-सा बीस-बाईस दिन का बच्चा मर भी गया था...

मुझ बुढ़िया को माफ़ करना, बेटा, मेरी आँखें दुखती हैं तो पानी निकलता ही रहता है। हाँ, तो उसी बरसात में एक दिन की बात है कि रात भर की मूसलाधार वर्षा के बाद सुबह सवेरे पानी ज़रा रुका तो बहुत से गाँव वाले जो कई दिन से अपने-अपने घरों में बन्द बेकार बैठे थे, काम-काज को निकल पड़े। कोई खेतों में नलाई करने निकल गया, किसी को पास के कस्बे में कोई काम याद आ गया। सोमवार का दिन था शायद। उस दिन सामने वाले गाँव राजापुर में हाट लगती थी, कई एक वहाँ चले गये मगर आसमान पर बादल तब भी छाये हुए थे। बरखा का कोई ठिकाना नहीं, बेटा, कौन जाने कब फिर झड़ी लग जाय। और हुआ भी यही। दो-चार घंटे तो खुला रहा, फिर वह घटाटोप छाया कि दिन में रात जैसा अँधेरा हो गया। साथ में घड़ी-घड़ी बिजली ऐसी चमकने लगी जैसे अँधेरे में कोई तलवार चला रहा हो और बादल ऐसे गरजने लगे जैसे तोपें छूट रही हों। फिर एकदम मूसलाधार बारिश शुरू हो गयी, बिलकुल ऐसी जैसी आज हो रही है।

गाँव के कितने ही आदमी बाहर निकले हुए थे। जो कहीं

पास ही थे, वे तो गाँव की ओर भागे। जो दूसरे गाँव गये हुए थे, वे वहीं ठहर गये। पर चार आदमी ऐसे थे जो निकले तो थे अलग-अलग, मगर एक-एक करके इसी नीम की छाया में आ पहुँचे। या यों कहो कि उनकी किस्मत उन्हें वहाँ खींचकर ले आयी.....

इन चारों में से तुमने तो किसी को क्या देखा होगा, बेटा! उन दिनों तुम तो शायद पैदा भी नहीं हुए थे। फिर भी शायद इनमें से एक का नाम तो सुना होगा। यह जो आजकल हमारे ज़मींदार हैं न, इनका बड़ा भाई था ठाकुर हरनामसिंह। बड़ा तगड़ा और रँगीला जवान था। चौड़ा चकला सीना, बड़ी-बड़ी रौबदार मूँछें। शादी नहीं हुई थी, आसपास के ठाकुरों की कितनी ही बेटियाँ उसके नाम पर कुँवारी बैठी थीं। गाँव में कभी घोड़े पर सवार होकर निकल जाता तो लड़कियाँ उसे किवाड़ों के पीछे छिप-छिप कर झाँकतीं। ज़बान का भी बड़ा मीठा था, बोलता था, ऐसे कि सुनने वाले पर बस जादू हो जाय...

आज न जाने मेरी आँखों को क्या हो गया है, बेटा! बहे ही जा रही हैं...

हाँ, तो वह था ज़मींदार का बेटा, मगर प्रजा से हमेशा मीठा बोल ही बोलता था। इनाम-अकराम भी बहुत देता था। गाँव भर में सब उसकी बड़ी इज़्ज़त करते थे। कहते कि ज़मींदार हो तो हरनामसिंह जैसा। शिकार का बड़ा शौक था उसे। उस दिन भी घोड़े पर सवार होकर मुर्ग़ाबियों के शिकार को निकला था, पर झील तक पहुँचा नहीं था कि बादलों की कड़क से घोड़ा ऐसा बिदका कि भागता-भागता दलदल में जा गिरा, ठाकुर मरते-मरते बचा, मगर घोड़े की टाँग टूट गयी।

बेज़बान जानवर को दुख से तड़पते देखा तो ठाकुर से न रहा गया और उसे गोली मार दी। मैंने कहा न कि वह था बड़ा रहमदिल। उधर से पैदल अपनी कोठी को वापस जा रहा था कि एकदम ज़ोर की बारिश आ गयी और उसे भागकर नीम के पेड़ के नीचे शरण लेनी पड़ी, जहाँ उसके तीन जानने वाले पहले से खड़े थे।

उनमें एक तो पंडित धर्मदास था। दुबला-पतला सूखा-सा ब्राह्मण, गले में जनेऊ, माथे पर यह बड़ा चन्दन का टीका। सारे गाँव में वही सबसे ज़्यादा पढ़ा-लिखा बुद्धिमान था। कहते थे, उसे सारे वेद-शास्त्र ज़बानी याद हैं। हर घड़ी उसे धर्म और समाज की रक्षा ही की धुन लगी रहती थी। यह उसका ही दम था कि हमारे गाँव में अधर्मी और नास्तिक विचार कभी न फैल सके। एक बार कहीं से एक सुधारक आ गया और लगा कहने कि हिन्दुओं को जातपात छोड़कर अछूतों को अपना भाई समझना चाहिए, पर धर्मदास ने नास्तिक और अधर्मी कहकर उसे फ़ौरन गाँव से निकलवा दिया। धर्मदास खुद तो विधुर था, मगर उसे गाँव की इज़्ज़त-आबरू का बड़ा ख़याल रहता था। गाँव के किसी लड़के या लड़की को कभी ऐसी-वैसी बात करते देख लेता तो आग बबूला हो जाता और पंचायत से ऐसी कड़ी सज़ा दिलवाता कि फिर किसी की हिम्मत न होती, वह पाप के रास्ते पर कदम भी रख सके। हाँ, एक लड़की थी मोलूराम सुनार की अभागिन बेटी चन्दा। वह न जाने कैसे पाप के गर्त में गिर पड़ी। उस कलंकिनी ने बिन-ब्याही होकर बच्चा जना था। माता-पिता ने उसे कितना ही मारा और पंचों ने कितना ही समझाया-धमकाया, मगर उसने यह न बताया कि बच्चे का बाप कौन है? यही कहे गयी कि मैंने पाप किया है, जो सज़ा

देनी है, मुझे दे दो। सो पंडित धर्मदास के कहने पर चन्दा को उसके पाप की निशानी समेत गाँव से निकाल दिया गया था। फिर गाँव वालों ने सुना कि उसे गाँव के बाहर अछूतों की बस्ती में शरण मिल गयी है। यह सुनकर पंडित ने कहा कि कोई अचंभे की बात नहीं है, क्योंकि भगवान की दृष्टि में पापी और अछूत बराबर ही हैं।

दूसरा, वहाँ पेड़ के नीचे, साहूकार मूलचंद था, जो रहता तो था राजापुर में, मगर जिससे लेन-देन हमारे गाँव वालों का भी बहुत चलता रहता था। जब भी ज़रूरत पड़े उसके पास चले जाओ, रुपये का प्रबंध कर ही देता था। यह और बात है कि ब्याज कड़ा लेता था और पहले बरस का ब्याज तो रकम में से पहले ही निकाल लेता था। मगर सब कहते, "यह तो साहूकारी का नियम ही है, इसका क्या रोना। मूलचंद बात तो बड़ी भलमनसाहत से करता है और आड़े वक्त काम भी आता है...।" वह दीन-धर्म के कामों में हमेशा बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेता। दीन-धर्म का उसे बहुत ख़याल रहता था। कथा हो, पूजा हो, पाठ हो, हवन हो—हर बात में सबसे बड़ी रकम चंदे की उसी से मिलती थी। मोलूराम सुनार की बेटी चन्दा को जब गाँववालों ने निकाल दिया तो मूलचंद महाजन ने पंडित को बहुत शाबाशी दी और कहा—"पंडितजी, तुमने तो फिर भी नर्मी बरती। हमारे गाँव की कोई छोकरी ऐसा करती तो टाँगें तोड़ देते हम, उसकी टाँगें!" एक और बात मूलचंद की यह थी कि वह कपड़े हमेशा बड़े ही उजले पहनता था, जैसे अभी धोबी के घर से धुलकर आये हों। महीन मलमल का बेल लगा हुआ कुर्ता, आस्तीनों पर चुन्नट पड़ी हुईं, और सफ़ेद चिट्टी धोती। इत्र भी बहुत लगाता था, दूर से पता चल जाता कि महाजन आ रहा है। कहने वाले यह

भी कहते थे कि उसका पसीना बड़ा बदबूदार है, इसीलिए इतना इत्र लगाता है। एक दिन किसी ने उससे कहा—"महाजन, यह तुम्हारे कपड़े हर वक्त इतने उजले कैसे रहते हैं? दिन में दो-तीन बार बदलते होगे?" इस पर वह हँसकर बोला—"यह धोबी की धुलाई की बात नहीं है, भैया। यह मन की सफ़ाई है। और तुम जानो मन उजला सो तन उजला, तन उजला सो मन उजला।"

तीसरा वहाँ रहमत ख़ान पटवारी था, बेटा। अब तो पटवारियों-नम्बरदारों की वह पुरानी बात रही नहीं, मगर उन दिनों तो यों समझो कि रहमत ख़ान हमारे गाँव का बादशाह जार्ज पंचम, बड़ा लाट, छोटा लाट, कलक्टर साहब, सब कुछ ही था। ज़मीनों का नापना, दाख़िल-ख़ारिज, सब काम उसी के हाथ से होते थे। गाँव वाले ठहरे अनपढ़, जैसे साहूकार के कहने पर उसके काग़ज़ पर अँगूठा लगा देते थे, वैसे ही पटवारी के कहने से स्टाम्पों और सरकारी काग़ज़ों पर अँगूठा लगा देते थे। ज़मीनों के बारे में जो काम भी होता, वह रहमत ख़ान खुशी से कर देता और काम हो जाने पर वे भी उसे खुश कर देते। अब इसे चाहे रिश्वत समझ लो या कुछ और समझ लो, मगर वैसे बड़ा शानदार आदमी था। यह लम्बी दाढ़ी थी, रोज़े-नमाज का पाबंद था, गाँव की मस्जिद में पाँचों वक्त हाज़िरी देता था। एक बार हज भी कर आया था और इस साल फिर हज को जाने की बात कर रहा था। और इसीलिए उसे खुश करने के लिए अब किसानों को ज़रा ज़्यादा रकम देनी पड़ती थी। दो बीवियाँ थीं और दोनों को वह बड़ा कड़ा पर्दा करवाता था, ख़ासकर छोटी को जो मुश्किल से बीस-बाईस बरस की होगी और उम्र में उसकी बेटी लगती थी। ज़ात का पठान था। इसलिए दिमाग़ ज़रा गर्म था। वैसे भी तगड़ा तो था ही, एक

दिन ताव में आकर उसने नूरबख़्श जुलाहे को इसलिए थप्पड़ मार दिया था कि उसने उसे अच्छी तरह खुश नहीं किया था और वह तीन दिन खाट पर पड़ा रहा था। ऐसे ही एक दिन छद्दू चमार पर गुस्सा आ गया तो उसे ज़मीन पर दे मारा। मगर ऐसा गुस्सा वह नीच जात वालों पर ही निकालता था। ज़मींदार साहब से, पंडितजी से, साहूकार से वह अदब-सम्मान से बात करता था और गाँव में तहसीलदार, नायब तहसीलदार, थानेदार या कोई दूसरा अफ़सर दौरे पर आ निकलता तो उनके स्वागत में वह इतनी दौड़-धूप करता था कि सब कहते, "अपना पटवारी है बड़ा दिल वाला! और उसकी पहुँच भी देखो कितने बड़े-बड़े अफ़सरों तक है..."

हाँ, तो ये चारों पेड़ तले खड़े भगवान से प्रार्थना कर रहे थे कि बारिश रुक जाये। उस दिन गरज-चमक भी बहुत ज़ोरों पर थी। एक बार बिजली ज़ोर से चमकी तो वे क्या देखते हैं कि सामने पगडंडी पर रुल्दू चमार और वह सुनार की लौंडिया चन्दा, जिसे उन्होंने गाँव निकाला दे रखा था, दोनों पानी में सराबोर उस पेड़ की तरफ़ चले आ रहे हैं।

हाँ बेटा, यह बताना तो मैं भूल ही गयी थी कि बूढ़ा रुल्दू चमार था तो जात का अछूत, पर क्योंकि गाँववाले सब उससे ही जूते बनवाते थे, इसलिए गाँव के सारे बच्चे उसे 'रुल्दू काका' 'रुल्दू काका' कहते थे। जिस दिन चन्दा को गाँव से निकाला गया, वह अछूतों की बस्त में से अपने बच्चे को लिये रोती हुई जा रही थी। रुल्दू ने देखा तो कहा, "बेटी, इस हालत में तू कहाँ जायगी। जब तक तेरे बाप का गुस्सा ठंडा हो, तू मेरे हाँ ठहर जा!" अंधा क्या चाहे दो आँखें, और डूबते को तिनके का सहारा। सो चन्दा रुल्दू चमार के टूटे-फूटे झोपड़े में

रहने लगी। उसके बाप ने जब यह सुना, तो उसने भी कहा, "चलो अच्छा ही हुआ। रुल्दू है तो चमार, मगर अपनी जान-पहचान वाला है और वैसे आदमी भी अच्छा है। इधर-उधर मारे-मारे फिरने से तो यही अच्छा है कि चन्दा उसी के यहाँ रहे।" मगर बहुत से ऊँची ज़ात वाले ऐसे भी थे जो कहने लगे कि अछूत के यहाँ रहने से तो अच्छा था चन्दा झील में डूबकर जान दे देती। और कई बिगड़े दिल नौजवानों का बस चलता तो रुल्दू का झोंपड़ा जलाकर राख कर डालते। वह तो बड़े-बूढ़ों ने उन्हें रोक लिया, और फिर बारिश भी इतने ज़ोर से हो रही थी कि किसी का बाहर निकलना ही मुश्किल था। जब आसमान फाड़कर इतना पानी बरस रहा हो, तो आग कहाँ लग सकती है?

मैंने कहा न बेटा, यह सब भगवान की लीला है। बरखा ने रुल्दू चमार के झोपड़े को जलने से तो बचा लिया, पर इसी बरखा ने उसकी कच्ची ईंटों की दीवारों को ढा दिया। उस वक्त रुल्दू तो अपनी दूकान में बैठा जूते बना रहा था और चन्दा के बच्चे को सर्दी लगकर बुखार आ रहा था। इस कारण वह पड़ोस की चमारिन के यहाँ कोई दवा माँगने गयी हुई थी। झोपड़े में बस उसका बच्चा ही था अकेला। इतने में अड़ाड़ाधम पिछवाड़े की दीवार ढहकर छप्पर नीचे आ रहा। रुल्दू और चन्दा दोनों भागे आये, मगर उस वक्त तक बच्चा मर चुका था। नामुराद नन्हीं-सी जान, उसने एक चीख भी तो न मारी! बस, चुपके से जान दे दी। बेटा, मैं सोचती हूँ, चन्दा का बच्चा उस दिन मरा न होता तो आज तुम्हारी उम्र का होता...

अपने मुर्दा बच्चे को देखकर चन्दा की आँख से एक आँसू भी न निकला। ऐसी हो गयी जैसे पत्थर की बनी हुई हो। लोग

कहते हैं कि उसने अपने बच्चे के मरने पर रोकर मन की भड़ास नहीं निकाली, इसी कारण उसका भेजा फिर गया और वह पागल हो गयी.....

न जाने आज मेरी आँखों को क्या हो गया है बेटा, पानी थमे और तुमसे हो सके तो बाज़ार में बैदजी की दुकान से दवा ला देना...

मैं भी कहाँ से कहाँ बहक जाती हूँ ! हाँ, तो रुल्दू चमार और कलंकिनी चन्दा को इस पेड़ की तरफ़ आते देखकर उन चारों का माथा ठनका।

पंडित धर्मदास ने चिल्लाकर कहा—"रुल्दू ! कहाँ मुँह उठाये चला आ रहा है। वहीं ठहर !"

रुल्दू ठिठका, फिर दूर से हाथ जोड़कर उसने कहा—"पंडित जी दया करो ! तूफ़ान बड़ा भयानक है। हम दोनों एक तरफ़ खड़े हो जायेंगे।

यह कहकर रुल्दू आगे बढ़ने ही वाला था कि धर्मदास ने फिर ललकारा—"बस बस, एक ज़रा-सा पेड़ ही तो है। यहाँ कौन सा महल खड़ा है जो एक कोने में तुम भी खड़े हो जाओगे ?

और फिर उसने ठाकुर हरनामसिंह से कहा—"ठाकुर साहब, इन्हें यहाँ न आने देना चाहिए ! नहीं तो हम सब मारे जायेंगे।"

इस पर पटवारी रहमतअली खान बोला—"क्यों पंडितजी' क्या ख़तरा है ?"

पंडित बोला—"तुम नहीं जानते, खान साहब। धर्मशास्त्रों में लिखा है कि बिजली पापी और अपवित्र लोगों पर गिरती है।

इनमें से एक अछूत है, दूसरी कलंकिनी। अगर वे यहाँ आ गये, तो समझो साथ में हमारी भी मौत आयी।"

पटवारी बोला—"जल तू जलाल तू, आयी बला को टाल तू... पंडित ऐसा है तो इनको पास भी न फटकने देना चाहिए।"

"हाँ, और क्या," महाजन जल्दी से बोला। "जान थोड़े ही देनी है इनके लिए।"

चन्दा, जो टकटकी बाँधे पागलों की तरह ठाकुर हरनामसिंह को घूरे जा रही थी, अब सर्दी के मारे काँपने लगी। उसकी यह हालत देखकर रुल्दू ने एक बार फिर मिन्नत की—"सरकार, लौंडिया को कँपकँपी चढ़ रही है। निमोनिया होकर मर जायगी। इसका बच्चा तो पहले ही झोपड़े की दीवार के नीचे दबकर मर चुका है।"

चन्दा अब भी ठाकुर को घूरे जा रही थी, मगर उसने दूसरी तरफ़ मुँह फेर लिया और अपनी बंदूक खोलकर उसकी नली में से देखने लगा, जैसे इस बातचीत से उसका कोई सरोकार न हो। और बेटा, था भी ठीक। वह ठहरा ज़मींदार, उसे इन नीच लोगों के मरने जीने से क्या?

चन्दा के बच्चे के मरने का सुनकर धर्मदास ने कहा—"चलो, अच्छा हुआ। पाप की निशानी दूर हुई"

रुल्दू बोला—"हाँ पंडितजी, जो होना था सो हो चुका। मैं तो इसीलिए चन्दा को इसके बाप के पास ले जा रहा था कि जिस कारण इस बेचारी को घर से निकाला था, वह बच्चा ही नहीं रहा तो अब तो प्रायश्चित कराके इसे घर में रख लें।"

पर महाजन ने हमेशा की तरह अब भी अपनी मीठी

ज़बान से काम निकालना चाहा। कहने लगा—"वह सब बाद में देखा जायगा, रुल्दू। मगर अब तुम जाओ, कोई और पेड़ तलाश करो। इस पेड़ के नीचे अब तो कोई जगह नहीं है।

रुल्दू ने कहा—"साहूकारजी, तुम तो जानो ही, यहाँ दूर-दूर कोई दूसरा पेड़ नहीं है।"

और महाजन ने उसे बात समझाने के लिए कहा—"रुल्दू ज़रा सोच-समझकर बात कर। धर्मशास्त्र के लिक्खे का तो ख़याल कर। तुम दोनों पर बिजली गिरने का डर है। अपने साथ क्यों हमारा भी ख़ून करवाते हो? मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं, मगर देखो तो ठाकुर साहब हैं, यहाँ के पंडित हैं, पटवारी जी हैं···"

इतने में वे क्या देखते हैं, बेटा, कि वह अभागिन चन्दा सर्दी से काँपती, कीचड़ में फिसलती उनकी तरफ़ बढ़ती चली आ रही है और उसके पीछे-पीछे रुल्दू "चन्दा बेटी क्या कर रही है? चन्दा बेटी, क्या कर रही है!" कहता हुआ। और उसी समय उनके सामने के बादलों में बिजली ज़ोर से चमकी और इतने ज़ोर का धमाका हुआ कि ज़मीन हिल गयी।

पंडित ज़ोर से चिल्लाया—"ठाकुर साहब, बन्दूक संभालिए नहीं तो ग़ज़ब हो जायगा। हम सब मारे जायेंगे!"

ठाकुर ने बन्दूक उठाकर कन्धे पर लगायी मगर उसके हाथ काँप रहे थे। अपनी तरफ़ बन्दूक का मुँह देखकर चन्दा तो जैसे बिलकुल ही पागल हो गयी। चिल्लायी—"तुम तो मुझे पहले ही मार चुके हो, ठाकुर! अब बन्दूक चलाना चाहते हो तो यह शौक भी पूरा कर लो। मैं भी अपने बच्चे के पास पहुँच जाऊँ।" और फिर मरी हुई आवाज़ में उसने कहा—"तुम्हारे बच्चे के पास।"

उसकी ये अजीब बा सुनकर उन सबको पक्का विश्वास हो गया कि वह पागल हो गयी है। दूर बादलों में एक बार फिर गड़गड़ाहट हो रही थी, जैसे बिजली गिरने की तैयारी हो। चन्दा को एक कदम और बढ़ाते देखकर महाजन चिल्लाया—"सरकार, क्या देखते हैं! चलाइए गोली, नहीं तो यह पगली अपने साथ हमें भी ले मरेगी।"

मगर, बेटा, ठाकुर की बन्दूक नहीं चली। इससे पहले भगवान की तलवार चल गयी। अभी वह बन्दूक का घोड़ा दबाने ही वाला था कि ऐसी भयानक चमक हुई जैसे सूरज देवता धरती पर आ गये हों। रुल्दू और चन्दा ने डर के मारे आँखें बन्द कर लीं। एक तड़ाखा हुआ, इतने ज़ोर से तड़ाखा, बेटा, जैसे सैकड़ों तोपें एकदम चली हों। धरती काँप उठी और धमाके से रुल्दू और चन्दा ज़मीन पर आ रहे। उन्हें विश्वास हो गया कि बिजली उन पर ही गिरी है...

मगर बेटा, जिसे भगवान रक्खे, उसे कौन चक्खे। जब उन्होंने आँखें खोलीं तो देखा कि वह नीम का पेड़ चोटी से लेकर जड़ तक बिजली से जला हुआ है और उसके नीचे चार लाशें झुलसी पड़ी हैं। ठाकुर की बन्दूक अब भी उसके हाथ में थी, मगर उसकी नली पर बिजली गिरी थी और वह गलकर इस तरह मुड़-तुड़ गयी थी जैसे मोम की बनी हुई हो ..

तो बेटा, मैं कहती हूँ इन्द्र देवता की आसमानी तलवार का हम इंसानों की तलवारें-बन्दूकें भला क्या मुकाबला कर सकती हैं! यह सब हमारे कर्मों का फल है, और क्या! जैसा बोओगे, वैसा ही काटोगे। यह थोड़े ही है कि बीज डालो ज्वार के और फ़सल काटो धान की। संसार में जो कुछ हो रहा है, भगवान शिव की आँख वह सब देखती

रहती है। वह उजले कपड़ों, ऊँची पगड़ियों या अमीरी ठाट-बाट से धोखा नहीं खाती। मन के भीतर की सारी अपवित्रता और सारे खोट को देख सकती है। और जब इन्द्र देवता की तलवार का वार पड़ता है तो वह ऊँचे-ऊँचे दरख्तों की छाती चीरती हुई पापियों की गर्दन तक जा पहुँचती है...

मैंने जो कुछ कहा है, तुम उसे एक पगली बुढ़िया की बड़ समझ रहे हो न, बेटा ? तुम सोचते हो कि जब वे सब वहीं के वहीं मर गये, तो फिर मुझे यह सब हाल कैसे मालूल हुआ ? पर मैंने जो कुछ कहा, वह झूठ नहीं है बेटा...

लो, बारिश भी कम हो गयी। अब बाहर जाओ तो बाज़ार में बैदजी की दूकान पर होते जाना ! उनसे कहना आज मेरी आँखों से फिर पानी बह रहा है। कोई दवा दे दें। कहना, तुम्हें पगली चन्दा ने भेजा है.....

मगर तुम तो पहले ही चले गये, मेरी ऊटपटांग बातों से उकता कर ! और तुमने भी मेरी कहानी नहीं सुनी। कोई मेरी कहानी नहीं सुनता। मैं पगली हूँ न...

बारिश थमने तक तो ठहरे होते, बेटा !

बारह घंटे

दिसम्बर का महीना !

स्टेशन मास्टर के दफ़्तर का घंटा पौने आठ बजा रहा था। गाड़ी के आने में अब भी पन्द्रह मिनट बाकी हैं। बीना ने सोचा और प्लेटफ़ार्म पर चक्कर लगाने लगी।

छोटा-सा स्टेशन। न पुस्तकों और अखबारों की दूकान, न कोई होटल। चाय की एक प्याली भी मिलनी सम्भव नहीं। बस दो कमरों की छोटी-सी इमारत। एक कमरे में स्टेशन मास्टर का दफ़्तर, दूसरे में टिकट-घर। टिकट-घर पर भीड़ भी तो नहीं थी। दो किसान गाढ़े की चादरों में लिपटे, कानों को रात की ठंडी हवा से बचाने के लिए ठाटा बाँधे बरामदे में सिकुड़े बैठे थे। दूर सिगनल की लाल रोशनी अँधेरे में चमक रही थी।

बीना साड़ी पर एक स्वेटर पहने हुए थी। उस पर एक ऊनी

चादर। परन्तु उस वक्त उसको सर्दी नहीं लग रही थी। जब से वह क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हुई थी, यह पहला अवसर था कि एक महत्वपूर्ण कार्य उसे सौंपा गया था। इसी कारण उसके हृदय की धड़कन तेज़ थी और इतनी शीतल हवा के होते हुए भी उसके गाल तमतमा रहे थे। क्या वह यह कार्य भली-भाँति कर सकेगी? कोई गड़बड़ तो न करेगी? घबड़ा तो न जायगी? नहीं, कदापि नहीं। वह सोच-समझ कर क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हुई थी। वह क्रांति के लिए बड़े से बड़ा काम करने को तैयार थी। उसे अपनी जान की परवाह नहीं थी और यह बिलकुल साधारण कार्य था। दल के नेता ने जो आदेश दिये थे, वे अब तक बीना के कानों में गूंज रहे थे।

"देखो, हमारा पुराना साथी विजयसिंह सोलह वर्ष की जेल काट कर आ रहा है। पर हमें मालूम हुआ है कि शहर पहुँचते ही उसको फिर गिरफ़्तार कर लिया जायगा। पुलीस डरती है कि उसकी वापसी से क्रांतिकारी-दल का प्रभाव और अधिक बढ़ जायगा। इस-लिए तुम उसे रामनगर के स्टेशन पर ही उतार लेना। रात भर वह तुम्हारे मकान पर ठहरेगा और सुबह को वह शहर आकर अपने आपको पुलीस के सामने गिरफ़्तारी के लिए पेश कर सकता है। पर हम चाहते हैं कि दोबारा जेल जाने से पहले वह कम-से-कम बारह घंटे तो आज़ाद रहे। यह पत्र तुम उसे दे देना और इसका जवाब वह जो लिखे उसे दल के दफ़्तर में पहुँचा देना।

"रात भर वह तुम्हारे मकान पर ठहरेगा।" पर बीना का मकान, छोटे-छोटे दो कमरों से अधिक न था। साठ रुपये महीना मिलते थे। स्कूल की अध्यापिका इससे बड़े मकान का खर्च कैसे सहन कर सकती। फिर वह रहती भी थी अकेली। न कोई सम्बन्धी,

न नौकर। अपना भोजन स्वयं बनाती थी। इन परिस्थितियों में एक ग़ैर-मर्द का अकेले मकान में उसके साथ रात काटना.....बीना का पालन-पोषण एक धार्मिक तथा रूढ़िवादी घराने में हुआ था। कालेज की शिक्षा और क्रांतिकारी विचारों ने उसका दिमाग़ काफ़ी हद तक आज़ाद कर दिया था। फिर भी उसके हृदय के किसी आन्तरिक कोने में समाज का भय समाया हुआ था। लोग क्या कहेंगे? साथ ही एक जवान मर्द के साथ का अकथनीय आकर्षण, यौन अनुभव पाने की दबी हुई इच्छा। इच्छा भी और भय भी। वह जवान थी किन्तु पुरुष के प्रेमालिंगन से अपरिचित। वह किताबी ज्ञान की सहायता से यौन-शास्त्र पर सैद्धान्तिक बहस कर सकती थी, पर उसके व्यावहारिक पहलुओं से सर्वथा अनभिज्ञ थी। हाँ, प्रकृति ने आप ही आप उसके शरीर में एक अजीब सी गुदगुदी, एक विचित्र सी चुभन, एक मीठी-मीठी पीड़ा उत्पन्न कर दी थी। वह जानती थी कि इसकी एक ही दवा है। पर विवाह से पहले इस दवा की ख़ूराक पीना—यह भी तो इतना आसान न था।

दूर अँधेरे में सिगनल की लाल रोशनी हरी रोशनी में बदल गयी। प्लेटफ़ार्म के सामने की रेल की पटरियाँ अपनी झनझनाहट से आने वाली ट्रेन की ख़बर देने लगीं। बीना का ध्यान यौन समस्याओं से हटकर विजयसिंह की ओर खिंच गया जो अभी कुछ ही मिनटों में रामनगर पहुँचने वाला था। जो रातभर—बारह घंटोंके लिए—उसका मेहमान रहेगा। विजयसिंह!—क्रांतिकारी दल में इस नाम की धूम थी। उसके क्रांतिकारी कारनामों को आज तक याद किया जाता था। आज वह सोलह वर्ष की कैद काट कर वापस आ रहा है। कल शायद फिर किसी काल-कोठरी में बन्द कर दिया जाय। यही उसकी ज़िन्दगी थी।

वह अपने आदर्शों के लिए जान की बाज़ी लगा चुका था। वह न कैदख़ाने से डरता था न फाँसी के तख़्ते से। बीना ने पार्टी के दफ़्तर में लगी हुई विजयसिंह की तस्वीर देखी थी। शानदार, लम्बा, तगड़ा। चौड़ा सीना, ऊँचा माथा और चमकदार काली आँखें जो तस्वीर के पर्दे में से भी हृदय को भेद देती थीं। सुन्दर आँखें, भयानक आँखें। उनकी गहराई में उन्माद था, पर उनकी सतह पर बच्चों की सी सादगी खेल रही थी। असम्भव था कि कोई उन आँखों को देखे और उनका शिकार न हो जाय। बीना ने उन आँखों से क्रांति की शिक्षा ली थी। अपने सिद्धान्तों के लिए मर-मिटने की तमन्ना और आज़ादी की ख़ातिर अपना सब कुछ कुरबान करने की हसरत! सब कुछ—जान, माल, इज़्ज़त! हाँ इज़्ज़त भी! जब कभी उसका कदम क्रांति के कठिन रास्तों पर डगमगाता, बीना उन आँखों की ओर देखती और एक क्षण में उसका हृदय एक अज्ञात शक्ति से भर जाता और फिर उसमें हर मुश्किल, हर मुसीबत का सामना करने का साहस पैदा हो जाता! परन्तु वे आँखें एक क्रांतिकारी ही की नहीं, एक पुरुष की आँखें भी थीं। उनमें एक विचित्र आकर्षण था, एक पागल बना देने वाली चिंगारी थी, वर्जित स्वादों का एक संकेत था, उस मनोहर जगत की एक झलक थी, जिसका द्वार तोड़ा भी जा सकता है। बीना अपनी पार्टी में ही कई ऐसी लड़कियों से परिचित थी जिन्होंने उस काल्पनिक दरवाज़े को तोड़कर स्वतंत्र यौन-सम्बन्धों की सीमा में कदम रक्खा था। क्या आज की रात वह विजयसिंह की मदद से...? वह इस ख़याल से ही शर्मा गयी। ऐसी बातें सोचनी भी नहीं चाहिए। लेकिन क्यों नहीं? विजयसिंह जवान है, स्वस्थ है, सुन्दर है और उसकी आँखों में अनजाने आनन्द का सन्देश है।

ट्रेन प्लेटफ़ार्म पर पहुँच गयी। बीना के विचारों का तार टूट गया और वह विजयसिंह की खोज में एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ने लगी। कहीं उसका पता न मिला। किसी क्लास में भी पार्टी के दफ़्तरवाली तस्वीर से मिलता-जुलता मुसाफ़िर न था। ट्रेन से उतरा तो बस एक दुबला-सा बूढ़ा भिखारी। दोनों किसान बरामदे से निकल कर थर्ड क्लास के भरे हुए डिब्बे में घुस गये। इंजन ने सीटी दी और ट्रेन चल दी। तो क्या विजयसिंह इस गाड़ी से नहीं आया? क्या उसको पहले ही गिरफ़्तार कर लिया गया? पर वह बूढ़ा क्यों प्लेटफ़ार्म की लालटेन के नीचे बीना को घूर-घूर कर देख रहा था?

"क्या आप मिस बीना हैं?" भिखारी की टोन बहुत साफ़ थी और शब्द बिलकुल शुद्ध ढंग से निकले थे।

और जब बीना ने "हाँ" कहा तब उसकी निगाह बूढ़े की आँखों पर पड़ी।...आँखें जो झाड़-झंखाड़ दाढ़ी में से इस प्रकार चमक रही थीं मानो घने जंगल में किसी मकान की दो सुन्दर खिड़कियाँ जगमगा रही हों।

"आप...ही...कामरेड विजयसिंह हैं?"

"हाँ, मुझे पार्टी सिक्रेट्री का तार पिछले स्टेशन पर ही मिल गया था कि मुझे इस स्टेशन पर उतरना है और यह कि तुम मुझे लेने आओगी।"

"चलिए!"

बीना विजयसिंह को अपने घर ले आयी। भोजन तैयार करके गयी थी। वह एक थाली में परोस, उसके सामने रख दिया। बिना एक भी शब्द कहे उसने खाना शुरू कर दिया। यह भी नहीं पूछा, "तुम नहीं खाओगी?"

बीना पास की कुर्सी पर बैठ गयी। विजयसिंह मुस्तैदी से भोजन करने में व्यस्त था। ऐसा लगता था कि उसे कितने ही दिन के उपवास के बाद भोजन मिला है। बीना की आँखों में आँसू आ गये, यह सोचकर कि सोलह वर्ष तक धूल मिली रोटी और तेल में पकी हुई दाल खाने के बाद उसको आज इंसानों की खूराक नसीब हुई थी। वह विजयसिंह को ग़ौर से देख रही थी। क्या यह वही चौड़े सीने, ऊँचे माथे, चिकने बालों वाला विजयसिंह है जिसकी तस्वीर पार्टी के दफ़्तर की दीवार पर टँगी थी? नहीं, यह वह नहीं हो सकता। इसका सिर गंजा है और उस पर मुद्दत तक न नहाने के कारण फुंसियों और मैल की पपड़ियाँ जमी हैं। इसकी दाढ़ी—आधी काली, आधी सफ़ेद भयानक ढंग से उगी है। ओठों के ऊपर और नीचे के बाल शायद दाल के धब्बे लगते-लगते पीले पड़ गये हैं। दाँत कुछ ग़ायब हैं और कुछ पीलाहट लिये हुए हैं। नाखून बड़े-बड़े और मैल से भरे हुए। विजयसिंह के प्रति अत्यधिक सहानुभूति रखते हुए भी बीना यह सोच-कर काँप उठी कि ट्रेन आने से कुछ सेकेंड पहले ही वह उसी व्यक्ति के साथ यौन-जीवन की पहली मंजिल तय करने के विषय में सोच रही थी।

विजयसिंह भोजन कर चुका तो बीना ने कहा—"अब आप जल्दी से नहाकर कपड़े बदल लीजिए। पार्टी वालों ने आप के लिए ये कपड़े भेजे हैं। मैं बाथ-रूम में पानी रक्खे देती हूँ।"

यह सुनकर विजयसिंह ने अपने फटे-पुराने कपड़ों पर निगाह डाली। जैसे उसको अकस्मात अपनी गन्दगी का अनुभव हुआ। बिना एक शब्द बोले वह बाथ-रूम में चला गया। सोलह वर्ष का लम्बा समय उसने अकेले काल कोठरी में बिताया था। इसीलिए उसको

इंसान से बात-चीत करने की आदत ही न रही थी, और बीना ऐसी युवती के सामने तो वह ऐसा चुप हो गया था जैसे गूँगा हो।

नहाकर विजयसिंह ने साफ़ कपड़े पहने और अँगीठी पर हाथ तापने लगा जो बीना ने सर्दी के ख़याल से जला रक्खी थी। लाल-लाल कोयलों के मद्धिम प्रकाश में उसकी आँखों में बीना को हल्की सी प्रसन्नता की झलक दिखायी दी। जैसे अंगारों पर से राख झटक दी गयी है। उसने बीना से कैंची माँगकर अपने नाखून काटे और पार्टी सेक्रेटी का पत्र पढ़ने बैठ गया। बीना को पता था कि उस पत्र में पिछले सोलह वर्ष की राजनीतिक घटनाओं का सविस्तार वर्णन और उस पर पार्टी के दृष्टिकोण से टीका है, क्रांतिकारी दल की रिपोर्ट है। जैसे-जैसे विजयसिंह उसको पढ़ता जाता था, उसकी आँखों में वही पुरानी क्रांतिकारी चमक वापस आती जा रही थी। क्रोध, दुख, आनन्द सभी भाव उसकी आँखों के आइने में एक के बाद एक दीख रहे थे। रिपोर्ट पढ़ते ही वह फिर क्रांतिकारी नेता था। फिर से गिरफ़्तार होने से पहले उसको अपनी पार्टी को आदेश देने थे। उसने बीना से काग़ज और कलम-दवात माँगी और पत्र का उत्तर लिखने बैठ गया। उसका हाथ काँप रहा था, चक्की चलाते-चलाते कलम पकड़ने की आदत ही न रही थी।

पत्र पूरा करके उसने बीना को दिया कि अगले दिन सावधानी से सेक्रेटी तक पहुँचा दे।

बीना ने घड़ी देखी। अभी केवल सवा नौ बजे थे। मौन भंग करने के लिए उसने कहा—"अभी आप सोना चाहते हैं या...या कुछ देर और बैठना है?"

विजयसिंह का जवाब सुनकर वह दंग रह गयी। उसने कहा—"मैं सिनेमा देखना चाहता हूँ।...बोलता सिनेमा।"

सहसा बीना के दिमाग़ में सोलह वर्ष के बन्दी-जीवन के भीषण परिणामों की एक झलक बिजली की तरह कौंद गयी। सोलह वर्ष! सन् २७ से ४३ तक! यानी / विजयसिंह ने कोई टॉकी ही नहीं देखी थी। न उसने सहगल की आवाज़ सुनी थी, न रमोला का सौंदर्य देखा, न काननबाला के रसीले गाने और न चन्द्रमोहन का अद्वितीय अभिनय। वह तो बोलते हुए चित्रों के जादू से उतना ही अनभिज्ञ था जैसे अफ़्रीका के जंगलों का कोई जंगली। सोलह वर्ष तक वह जीवन के मनोरंजक तथा सुखद पहलुओं से वंचित रहा था। सिनेमा और थियेटर, गाना और नाच! बच्चों की आवाज़, सूर्योदय का रंगीन दृश्य! चाँद और तारे, बरसात की रिमझिम और गीली मिट्टी की सुगन्ध। वृक्षों की शीतल छाया, फूलों की बहार, माँ की ममता, सन्तान की उमंग, स्त्री का प्यार, कुछ भी नहीं। बस एक अँधेरी कोठरी, जेल के वार्डनों के कठोर स्वर, आदी मुजरिमों, डाकुओं तथा खूनियों का साथ। जीवन के सागर में मृत्यु का यह द्वीप। मानवता की सीमाओं से बहुत बाहर। दुनिया के बीच, पर दुनिया से बहुतदूर। और वहाँ विजयसिंह ने सोलह वर्ष बिताये, यानी एक सौ बानवे महीने, लगभग छै हज़ार कष्टदायक दिन और छै हज़ार काली रातें! और इसके बाद केवल बारह घंटे ज़िन्दगी के, बारह घंटे रोशनी, रंग और खुशबू के। इसके बाद फिर जेलखाने के भयानक काले-काले द्वार खुलेंगे और विजयसिंह को निगल कर बन्द हो जायँगे।

"मैं सिनेमा देखना चाहता हूँ, बोलता सिनेमा!" बच्चों की-सी सरलता से विजयसिंह ने कहा था। हर आदमी के स्वभाव में बचपन

होता है। और फिर क्रांतिकारी भी तो आख़िर इंसान है। फिर क्या आश्चर्य है कि आज की रात उसके हृदय में सिनेमा देखने की तीव्र इच्छा जाग उठी। क्या पता, अब जो वह जेल जाय तो फिर कभी जीवित न निकले। शायद सिनेमा देखने की हसरत उसके मन ही में घुटकर रह जाय।

राम नगर में एक ही मामूली सिनेमा था जहाँ कई साल के पुराने हिन्दुस्तानी फ़िल्म दिखाये जाते थे। बीना तो वहाँ एक बार भी न गयी थी। पर वह विजयसिंह को ले गयी। खेल शुरू होने ही वाला था। जब वे टिकट लेकर हाल में घुसे तब तक हाल में अँधेरा हो गया और रुपहले पर्दे पर चित्र चलने लगे। फ़िल्म था तूफ़ान मेल। पुराना तीसरी श्रेणी का फ़िल्म। पर विजयसिंह के लिए तो चमत्कार से कम न था। तस्वीरों को पर्दे पर चलते-फिरते तो उसने कैद होने से पहले देखा था, पर गाते-बोलते देखकर वह भौंचक्का रह गया। चार्ली और गौरी के मज़ाक पर वह बच्चों की भाँति हँसने लगा। खिल-खिलाकर, तालियाँ बजाकर! दूसरे दर्शक घूम-घूम कर देखने लगे। बीना को पहले तो ज़रा बुरा लगा, किन्तु तुरन्त ही उसे ख़याल आया कि शायद सोलह वर्ष में पहली बार विजयसिंह हँस रहा है। और यह विचार आते ही उसको तूफ़ान मेल फ़िल्म भी अच्छा लगने लगा।

माधुरी और बिलिमोरिया पर्दे पर प्रेम का खेल खेल रहे थे। बेबाक, बेपरवाह पाशविक प्रेम! वह प्रेम नहीं जो विरह की रात के आँसुओं में प्रकट होता है, बल्कि वह प्रेम जो ठहाकों। और भेद पूर्ण निगाहों में झलकता है। माधुरी बदन से चिपके हुए एक चुस्त लिबास

में साकार कामना बनी हुई थी। कामुकता की एक लपट, जिसकी गर्मी से कोई भी झुलस सकता था। उफ़, उसकी कामुकता पूर्ण दृष्टि, कटीली नज़र, यह उसका छाती के उभार पर हाथ रखकर एक अजीब अन्दाज़ से कहना—"हाय यहाँ!"

विजयसिंह बड़ी तल्लीनता से फ़िल्म देख रहा था पर उसका हाथ—क्या यह भूल से बीना के हाथ पर रक्खा गया था? चक्की पीसते-पीसते हाथ कठोर हो गया। किन्तु फिर भी उसमें एक प्रकार की नर्मी थी। किसी समय यह हाथ कोमल और मुलायम रहा होगा। अंगुलियाँ अब भी लम्बी और कोमल थीं। विजयसिंह तमाशा देख रहा था और उसका हाथ बीना के हाथ पर रक्खा था। वह बीना के हाथ को दबाने की चेष्टा नहीं कर रहा था। शायद भूल से ही यह हाथ मेरे हाथ पर रक्खा गया हो—बीना ने सोचा और धीरे से अपना हाथ खींच लिया।

हाल में अँधेरा था, लेकिन फिर भी बीना को ऐसा महसूस हुआ मानो विजयसिंह को उसका हाथ हटा लेना बुरा लगा है। इसके बाद फ़िल्म में उसकी दिलचस्पी भी ख़त्म हो गयी। थोड़ी देर में उसने कहा—"चलो, घर चलें। बस देख लिया फ़िल्म।" और जब वे बाहर सड़क की रोशनी में आये तो विजयसिंह एक रूठे हुए बच्चे की तरह धरती पर निगाहें गाड़े चल रहा था। घर पहुँच कर बीना ने अपने पलंग पर विजयसिंह के लिए बिस्तर लगा दिया और उससे कहा कि आराम से सो जाय, क्योंकि सवेरे ही उसको शहर जाना था। उसके बाद उसने दूसरे कमरे में फर्श पर दरी बिछाकर अपने सोने का इंतज़ाम कर लिया। एक गिलास में पानी भरकर विजयसिंह के सिरहाने रख दिया और पूछा—"और कुछ चाहिए?" विजयसिंह ने

इनकार से सिर हिला दिया। लेकिन बीना ने लालटेन के प्रकाश में देखा कि उसकी आँखें उसके चेहरे पर गड़ी हुई हैं और उन आँखों की गहराई में वही उन्माद, उनकी सतह पर वही बच्चों की-सी सादगी और साथ ही वह आकर्षण भी है जो पार्टी के दफ़्तर वाली तस्वीर में था। बीना के देखते ही देखते वह आँखें घुँधला गयीं और उनमें आग की जगह धुआँ सा, आदेश की जगह प्रार्थना सी झलकने लगी। बीना ने जल्दी से लालटेन की बत्ती धीमी की और अपने कमरे में चली आयी।

लेकिन दोनों कमरों के बीच में जो दरवाज़ा था, उसकी चटख़नी उस तरफ़ लगती थी, जिधर विजयसिंह का पलंग था। बीना ने किवाड़ भेड़ते हुए आवाज़ दी—"कृपाकर चटख़नी लगा लीजिएगा।" यह कहकर वह अपने बिस्तर पर लेट गयी और चटख़नी बन्द होने की आवाज़ की प्रतीक्षा करने लगी। एक मिनट बीता, दो मिनट, पाँच मिनट, दस मिनट—और बीना को ऐसा अनुभव हुआ कि जब तक चटख़नी बन्द न होगी, उसे नींद न आयेगी। पर चटख़नी बन्द न हुई।

बीना ने सोचा—क्या विजयसिंह सो गया है? पर दूसरे कमरे से पलंग पर करवटें बदलने की आवाज़ आयी। थोड़ी ही देर के बाद ऐसा लगा, मानो वह उठ बैठा है। फिर कमरे में चलने की आवाज़। वह सोया न था, टहल रहा था।

बीना को विजयसिंह की बेचैनी का कारण मालूम था, इसलिए कि वह स्वयं उस बेचैनी का कारण थी। सोलह वर्ष एकान्त और नीरस जीवन बिताने के बाद 'तूफ़ान मेल' के बेबाक प्रेम के दृश्य देख उसकी सोयी हुई कामनाएँ जाग उठी थीं और अपनी

तृप्ति चाहती थीं। कल सुबह वह फिर जेल चला जायगा। यही कुछ घंटे शेष थे।

बीना ने अब तक अपने आपको संभोग-सुख से वंचित रक्खा था। क्या इसीलिए कि एक कुरूप, लम्बी दाढ़ी वाले गन्दे और बीमार बूढ़े की वासना की आग बुझाये? उसने हमेशा एक सुन्दर, स्वस्थ नवयुवक के सपने देखे थे। नवयुवक, जो उससे प्रेम करता हो, उसके साथ सारा जीवन बिताने को तैयार हो! कहाँ उसके स्वप्नों का वह सुन्दर युवक और कहाँ यह मुरझाया हुआ बूढ़ा! नहीं, वह हरगिज़ ऐसा नहीं कर सकती।

लेकिन बीना के भावुक किन्तु हमदर्द दिमाग़ ने इसी परिस्थिति को दूसरी तरह यों पेश किया—"निस्संदेह विजयसिंह समय से पहले बूढ़ा हो चुका है, उसके चेहरे पर भयानक दाढ़ी है, उसके माथे पर झुर्रियाँ पड़ी हैं, उसके सिर में फुंसियाँ निकली हैं, उसके मुँह से पीले और गन्दे दाँत झाँक रहे हैं, मगर क्यों? बीना, सोच! सोलह वर्ष हुए यही विजयसिंह एक सुन्दर कड़ियल जवान था। तूने उसकी तस्वीर देखी है। क्या तूने उस तस्वीर की तरफ़ लालसा भरी निगाहों से नहीं देखा? आज उसी विजयसिंह की यह हालत क्यों है? सोलह वर्ष में पचीस वर्ष का नवयुवक इतना बूढ़ा तो नहीं हो सकता। विजय-सिंह क्यों अपनी जवानी, अपना हुस्न, अपनी तन्दुरुस्ती खो बैठा? क्रांति के लिए। बीना, क्रांति के लिए। उसी क्रांति के लिए जिसकी ख़ातिर तू जान देने को तैयार है। लेकिन तू तो बातें ही बनाती है, उसने तो कर दिखाया। अपनी जवान, अपनी तन्दुरुस्ती, अपने दोस्त

और सम्बन्धी, अपने प्रेम भरे स्वप्न—सब कुछ क्रांति के लिए कुर्बान कर दिये। सोलह' वर्ष जेल में काटे। काल कोठरी में रहा, कोड़ों की मार खायी, वार्डरों की ठोकरें खायीं, गालियाँ सुनीं। किस लिए! क्रांति के लिए। और तू, तेरा दिल इतना छोटा है कि आज तू उस विजयसिंह की दाढ़ी, उसकी झुर्रियों और उसकी फुंसियों को नफ़रत की निगाह से देखती है। धिक्कार है तुझ पर!"

दूसरे कमरे में विजयसिंह अब भी टहल रहा था। क़दम चलते-चलते दरवाज़े के पास आये और रुक गये। बीना का हृदय भी धड़कते-धड़कते रुक गया—न चटखनी बन्द होने की आवाज़ आयी, न दरवाज़ा खुला। कुछ क्षणों के बाद कदम वापस चले गये। बीना का हृदय फिर धड़कने लगा।

"नहीं, वह अपनी ओर से पहल नहीं करेगा। वह भावुक है, उसे अपनी कुरूपता का ज्ञान है। वह तुझे छेड़ने का साहस नहीं करेगा। अगर तू उस कमरे में नहीं जायगी तो वह रात भर टहल कर बिता देगा और सुबह को एक शब्द कहे बिना फिर जेल चला जायगा। जिसने सोलह वर्ष बिता दिये वह तो शेष जीवन भी बिता सकता है। लेकिन तूने उसको निराश लौट जाने दिया तो अपने आप को तू कभी क्षमा न कर सकेगी। उसकी हसरत भरी निगाहें हमेशा तेरा पीछा करती रहेंगी।

विजयसिंह के कदम चलते-चलते रुक गये। पलंग पर बैठने की आवाज़ आयी, फिर लेटने की।

"शायद सो जाय।"—बीना ने अपने आप को समझाने का यत्न किया। किन्तु तुरन्त ही करवटें बदलने की आवाज़ आयी और यह क्या! क्या बीना के कान धोखा दे रहे थे या विजयसिंह सचमुच रो

रहा था ? बीना घबराकर उठ बैठी – विजयसिंह रो रहा है ! विजयसिंह, जिसके बारे में मशहूर है कि जब उसे कोड़े मारे गये तो वह हँस रहा था। विजयसिंह जो फाँसी का हुक्म सुनकर भी मुस्कराया था। वही विजयसिंह जिसने पचास दिन अनशन किया था, जो न कैद से डरता था, न मार से। जो न मौत से घबराता था, न काले पानी की सज़ा से। वही विजयसिंह आज रो रहा है, बच्चों की तरह सिसकियाँ ले-लेकर।

विजयसिंह की आँखें बीना की वासना को न जगा सकी थीं। उसने बीना के हाथ को छुआ था पर यह सदेह बेकार सिद्ध हुआ था। लेकिन उसको रोते देख बीना की ममता जाग उठी—बच्चों का प्रत्येक हठ पूरा करना चाहिए। और भारत का सबसे महान क्रांतिकारी, निडर विजयसिंह भी इस मामले में बच्चा ही तो था। बावजूद अपनी दाढ़ी, अपनी फुंसियों और मैले-मैले पीले दाँतों के।

बीना के दिल की तह में से सदाचार ने सिर उठाया और उसको समझाने का यत्न किया—स्त्री का सतीत्व ही उसका सब कुछ है, क्या यों ही लुटा देगी ?—और जब वह यों भी न मानी तो डराने की चेष्टा की—वह बीमार है, उसके फुंसियाँ निकली हैं। तुझे कोई बीमारी लग जायगी।

पर बीना उस समय उन भयानक सोलह वर्षों का खयाल कर रही थी जो विजयसिंह ने कैद में बिताये थे ? वह दीर्घ समय जिसमें वह जीवन की प्रत्येक दिलचस्पी और आनन्दमय रंगीनी से वंचित रहा था। सिनेमा और थियेटर, गाना और नाच, बच्चों की किलकारियाँ, सूर्यास्त का रंगीन दृश्य, चाँद और तारे, बरसात की रिमझिम और गीली मिट्टी की सुगन्ध, पेड़ों की छाया, फूलों की बहार, माँ की ममता, संतान की उमंग, स्त्री का प्यार—और कल वह फिर इसी नरक में

झोंक दिया जायगा और यह ज़िन्दगी के बारह घंटे यों ही बीत जायँगे। विजयसिंह अपनी प्यास को साथ लिये वापस चला जायगा। वह, जिसने अपनी जान राष्ट्र की स्वतन्त्रता और क्रांति के लिए अर्पित कर दी थी, उसके वास्ते एक स्त्री कुछ घटे के लिए अपना शरीर भी देने को तैयार न होगी। स्त्री, कोमलता, प्यार, हृदय के पास एक और धड़कन। सोलह वर्ष तक वह उनसे वंचित रहा। इस समय यदि इसको यह न मिला तो शायद मरते दम न मिले।

नहीं, वह ऐसा न होने देगी। उसने अपनी जान क्रांति के लिए वक़्फ़ कर दी थी, अपनी जान और अपना शरीर, अपना सतीत्व भी। विजयसिंह की कुर्बानियों के सामने उसके तुच्छ शरीर का क्या मूल्य था। इससे अच्छे शरीर बाज़ार में पाँच-पाँच रुपये में बिकते हैं। नहीं, वह प्रेम से, अपने शरीर की गर्मी से विजयसिंह को आराम पहुँचायेगी। चन्द घंटों में सोलह वर्ष के अभाव की पूर्ति की चेष्टा करेगी। उसके शरीर में विजयसिंह को कुछ क्षणों के लिए ही सही, फूलों की बहार, बच्चों की आवाज़, माँ की ममता, संगीत की झंकार, सूर्यास्त की रंगीनी, बरसात की रिमझिम, सब कुछ मिल जायगा और भविष्य में जब वह जेल की सख़्तियों से तंग आकर दुनिया और जीवन की ओर से निराश होने लगेगा तो उसे इन चन्द घंटों की याद आयगी—एक लकड़ी की याद, एक जवान शरीर की याद—और वह मुस्करा देगा। निराशा के बादल छँट जायँगे। वह ज़िन्दगी से मुँह मोड़ते-मोड़ते रुक जायगा। वह अपने शरीर और दिल को ज़िन्दा रक्खेगा—भारत के लिए, क्रांति के लिए। और फिर जब देश स्वतन्त्र हो जायगा तो विजयसिंह निराश और उदास नहीं, बल्कि मुस्कराता

हुआ जेल से निकलेगा जिससे फिर अपने राष्ट्र और देश की सेवा कर सके। लाखों लोग उसकी कहानी सुनेंगे और उसके त्याग और कुर्बानी से उनके सिर ऊँचे हो जायेंगे और हृदय गर्व से फूले न समायेंगे। उस समय शायद विजयसिंह बीना का नाम भी भूल जायगा। क्रांति के बाद राजकाज चलाने में उसको एक गुमनाम लड़की को याद करने की कहाँ फुरसत मिलेगी, लेकिन उस समय बीना को विजय का वह अनुभव प्राप्त होगा जो एक कलाकार को अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना देखकर प्राप्त होता है।

बीना उठी, दरवाज़ा खोला और दूसरे कमरे में चली गयी।

मैं कौन हूँ

"हाँ, तो तुम सब जानना चाहते हो कि मैं क्यों हँस रहा हूँ.....

"तुम जानना चाहते हो कि एक आदमी जो मरने के करीब हो, कैसे खिलखिला कर हँस सकता है...?

"तुम रहने दो डाक्टर। क्यों तकलीफ़ करते हो? अपनी डिस्पेन्सरी में कुनीन-मिक्सचर और एस्पिरीन की गोलियाँ बेचो। तुम मुझे मरने से नहीं बचा सकते। बात यह है कि मुझे एक छोड़ दो घाव लगे हैं। एक पसलियों के आर-पार—कमर से लेकर कलेजे तक। दूसरा पेट में। देखते नहीं, आंतें निकल आयी हैं...

"हाँ, तो तुम सब जानना चाहते हो कि मरता हुआ आदमी कैसे हँस सकता है ? मैं अभी बताता हूँ...बात यह है कि मुझे याद आ गया है कि मैं कौन हूँ। क्या कहा तुमने बड़े मियाँ ? इसमें हँसी की क्या बात है ? कमाल किया तुमने, हँसी की नहीं तो क्या रोने की बात है ? एक महीने से मैं यह मालूम करने की कोशिश कर रहा था कि मैं कौन हूँ। हिन्दू मुसलमान या सिक्ख, जिसके बाल और दाढ़ी ज़बर्दस्ती मूंड दी गयी हो और ज़बर्दस्ती खतना कर दिया गया हो। ब्राह्मण या अछूत ?...अमीर या गरीब ?...पूर्वी पंजाब का रहने वाला या पच्छिमी पंजाब का ?...लाहौर का रहने वाला या अमृतसर का ?...रावलपिंडी का या जालन्धर का ? मैंने ही नहीं, बल्कि बहुत से लोगों ने यह मालूम करने की कोशिश की कि मैं कौन हूँ, मेरा धर्म क्या है, जाति क्या है, नाम क्या है ?...पर किसी को नहीं मालूम हो सका...खुद मुझे याद आ गया, पर याद आया तो अब...अब, जब कि मैं मर रहा हूँ .....

"डाक्टर साहब ! तुम इतने परेशान न हो, नहीं तो तुम्हारी शक्ल देखकर मुझे और हँसी आयेगी। यकीन मानो कि तुम क्या, अब दुनिया का कोई डाक्टर भी मुझे नहीं बचा सकता...मैं जानता हूँ कि तुम किस सोच-विचार में पड़े हो ? मेरे दो घाव इतनी बेढब जगहों पर लगे हैं कि तुम्हारी समझ में नहीं आ रहा, पहले किसकी मरहम-पट्टी करो। पहले चित लिटा कर, आंतों को अन्दर डाल कर, सीते हो तो इतनी देर में कमर वाले घाव से इतना खून बह जायगा कि एक टाँका भी न लगा सकोगे और मैं मर चुकूँगा। और अगर तुम मुझे उल्टा करके पहले कमर के घाव की खबर लेते हो तो इतनी देर में अंतड़ियाँ तो दूर सारा कलेजा बाहर निकल आयेगा.....

"हाँ, तो बात यह है कि एक महीना हुआ जब मेरा दिमाग़, न जाने कितने दिनों के बाद, एक अँधेरे सपने से बाहर निकला और मैंने अपने आपको दिल्ली के एक सरकारी अस्पताल में पड़े पाया तो मेरी याद एकदम ग़ायब हो चुकी थी, डाक्टर ने पूछा—'तुम्हारा नाम ?'

"मैंने बहुत सोचा, दिमाग़ पर ज़ोर डाला, फिर कहना पड़ा, 'याद नहीं !'

'हिन्दू हो या मुसलमान ?' डाक्टर ने दूसरा सवाल किया,

मुझे यह भी याद नहीं था।

"कुछ भी याद नहीं था। धर्म, मज़हब; जाति, जमाअत, देश, शहर, मुहल्ला—यह भी याद नहीं था कि मेरी शादी हो चुकी है या कुँआरा हूँ या रँडुवा। और तो और मुझे अपनी उमर का भी कोई अंदाज़ नहीं था। न जाने क्यों होश आने पर मेरा ख़याल था कि मैं काफ़ी जवान हूँ, लेकिन जब एक नर्सने आइना दिखाया तो मैं अपनी शक्ल देखकर डर गया। सर के आधे बाल सफ़ेद। आठ दस दिन की बढ़ी खिचड़ी रंग की दाढ़ी। आँखें अन्दर धँसी हुईं। चेहरे पर झुर्रियाँ। गरज़े कि यही हुलिया जो अबभी तुम लोग देख रहे हो ! हाँ, उस वक्त सिर के सफ़ेद बालों में खून की मेंहदी नहीं लगी थी, जो अब लगी हुई है। देखा, तुम भी हँस दिये, खून की मेंहदी ? औरतें मेंहदी हथेलियों पर लगाती हैं और बूढ़े मर्द सिर के सफ़ेद बालों में। अब खुद ही बताओ कि यह सोच कर हँसी क्यों न आये ?.....

हाँ, तो दिल्ली के डाक्टरों ने बहुत कोशिश की कि मेरा नाम, पता, धर्म, मज़हब मालूम हो जाय, पर कुछ पता न चला। मैंने खुद बड़ी दौड़-धूप की, क्योंकि बिना अपना नाम जाने हुए ऐसा लगता था जैसे मैं ज़िन्दा नहीं हूँ, मुर्दा हूँ। पूछ-ताछ करने पर पता चला कि

पचास-साठ और घायलों के साथ मुझे रेल में पंजाब से लाया गया है। मैंने जब सवाल किया कि बाकी ज़ख्मी हिन्दू थे या मुसलमान तो मालूम हुआ कि हिन्दू भी थे, सिख भी और मुसलमान भी। हुआ यह था कि अमृतसर और लाहौर के बीच एक-एक करके दो रेलें पटरी से उतार दी गयी थीं। एक में पच्छिमी पंजाब से हिन्दू अमृतसर आ रहे थे, दूसरी में पूर्वी पंजाब से मुसलमान लाहौर जा रहे थे। रात के ग्यारह बजे के करीब एक स्पेशल के नीचे बम फटा। पहिये पटरी से नीचे आ रहे, इंजन उलट गया। कितने तो वैसे ही मर गये, बाकी मुसाफ़िरों पर गोलियाँ बरसने लगीं। रात के अँधेरे में घायल गिरते-पड़ते इधर-उधर भागे। इसके बाद उस जगह से मील भर दूर दूसरी स्पेशल पर जो उल्टी तरफ़ से आ रही थी, हमला हुआ इस बार बम की ज़रूरत नहीं पड़ी। गाड़ी जैसे ही एक मोड़ पर हल्की हुई, उस पर मशीनगन की गोलियों की बौछार पड़ी। ड्राइवर, गार्ड और बहुत से मुसाफ़िर जो खिड़कियों के पास बैठे थे, तुरन्त खतम हो गये। इंजन मस्त हाथी की तरह घड़घड़ाता गाड़ी को घसीटता चला गया, पर थोड़ी ही दूर पर रेल की पटरी का काँटा बदल दिया गया था, इसलिए पूरी गाड़ी उलट गयी। उसके घायलों ने भी रात के अँधेरे में पनाह ली...दूसरे दिन सवेरे जब हिन्दुस्तानी सरहदी फ़ौजें और पाकिस्तानी सरहदी फ़ौजें गश्त को निकलीं तो उन्होंने कितने ही हिन्दुओं और मुसलमानों को बिलकुल नयी सरहद पर मुर्दा और ज़ख्मी पाया। उनमें मैं भी था...अब तुम्हीं कहो, हँसी न आये यह सुनकर कि कितने हिन्दुओं ने अँधेरे में पाकिस्तान में दम तोड़ा था और कितने ही मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में।

"और फिर भी वह इस तरह ठीक सरहद पर मिले-जुले पड़े थे कि यह कहना मुश्किल था कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान। कौन हिन्दुस्तान में है और कौन पाकिस्तान में। कुछ भी हो, नयी सरहद की लाइन खिंच गयी थी, खून से! या यों कहिए कि बूढ़ी ज़मीन के बालों में खून की मेंहदी लग गयी थी।.....

"देखो सफ़ेद दाढ़ी वाले मौलाना, घबराओ मत। मेरा इशारा तुम्हारी दाढ़ी की तरफ़ बिलकुल नहीं था। तुम मेरी तरफ़ इस तरह न घूरो। मैं जानता हूँ, तुम क्या सोच रहे हो। मैं मर रहा हूँ न और मरते वक्त इंसान पर सब भेद खुल जाते हैं। हाँ, तो तुम सोच रहे हो कि मैं अगर मुसलमान होने का ऐलान कर दूँ तो तुम अंजुमन खुद्दामुल-मुसलमीन की तरफ़ से मेरे कफ़न-दफ़न का बन्दोबस्त अभी से शुरू कर दो। और लम्बी चोटी वाले महोदय! मैं तुम्हारे विचार भी जानता हूँ। तुम इस ताक में हो कि कब मैं अपने हिन्दू होने का इक़रार करूँ और कब तुम धर्म-सेवक समाज की ओर से मेरे क्रिया-कर्म का प्रबन्ध शुरू कर दो। मैंने सुना है, यहाँ बम्बई में पारसी लोग अपने मुर्दों को मालाबार हिल पर एक खुले मैदान में रख आते हैं जिसमें कि गिद्ध लाशों को खा जायँ। यह भी सुना है कि हज़ारों गिद्ध हर वक्त इस इन्तज़ार में मँडलाते रहते हैं कि कब कोई ताज़ी लाश आये.....पर यह न मालूम था कि ऐसे गिद्ध भी होते हैं जो मौत से पहले ही मरने वाले पर मँडलाते रहते हैं।

"किसी ने मुझे बताया कि जब मुझे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सरहद पर इस तरह बेहोश पड़े पाया गया कि मेरी एक टाँग हिन्दुस्तान में थी तो दूसरी पाकिस्तान में, एक हाथ इधर तो दूसरा उधर, उस वक्त मेरे बदन पर एक फटी हुई शलवार और खून में

लथपथ क़मीज थी। कौन कह सकता था कि यह पंजाबी हिन्दू का लिबास है या पंजाबी मुसलमान का। ख़ैर, न जाने क्यों मुझे दिल्ली ले आया गया। मुझे घाव तो मामूली आये थे, जो जल्दी अच्छे हो गये, लेकिन डाक्टर कहते थे कि दिमाग़ में कोई गहरी अंदरूनी चोट आयी है जिससे याद ग़ायब हो गयी है...

"हाँ साहब ! तो मैं दुनिया में एक बड़ा ही अजीब आदमी बन गया, जिसको न अपना नाम याद था, न अपना पता, न दीन, न धर्म। मेरी तस्वीरें हिन्दुस्तान भर के अखबारों में भी छपीं और पाकिस्तान के अख़बारों में भी, लेकिन मेरे किसी रिश्तेदार, दोस्त या जानने वाले ने मेरी ख़बर न ली। शायद सब के सब ख़त्म हो चुके थे। शायद सिरे से मेरा कोई रिश्तेदार, कोई दोस्त या जानने वाला था ही नहीं। और इस बीच में घाव अच्छे होने पर मुझे अस्पताल से निकाल दिया गया। मैंने सोचा मेरे जैसे मुसीबत के मारे के लिए कहीं तो दो रोटियों का इन्तज़ाम हो ही जायगा।

"फिरता-फिराता जामा मसजिद के पास एक कैम्प में पहुँचा। मैंने कहा—'मैं मुसीबत का मारा हूँ, मुझे पनाह दो।' कैम्प के मैनेजर ने पूछा—'हिन्दू हो या मुसलमान ?' मैंने जवाब दिया—'याद नहीं।' और यही सच भी था। झूठ बोलने की मेरी ख़्वाहिश ही नहीं थी। मैनेजर ने टका सा जवाब दे दिया—'यह कैम्प सिर्फ़ मुसलमानों के लिए है।' सड़कों की ख़ाक छानता पुरानी दिल्ली से नयी दिल्ली पहुँचा। वहाँ एक बहुत बड़ा कैम्प दिखायी पड़ा। दरवाज़े पर मैंने कहा—'मैं बड़ा दुखी हूँ, तीन वक्त से दाना पेट में नहीं गया ! मुझे पनाह दो।' पूछा गया—'हिन्दू हो या मुसलमान ?' मैंने फिर जवाब दिया—'मुझे याद नहीं।'

'नाम ?' ... 'नाम भी याद नहीं।' जवाब मिला—'यह कैम्प सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए है।' न जाने कितनी देर तक मैं पुरानी दिल्ली और नयी दिल्ली की धूल फाँकता रहा। कितने ही कैम्प नज़र आये, लेकिन वे या तो हिन्दुओं और सिक्खों के लिए थे या मुसलमानों के लिए, इंसानों के लिए कोई भी नहीं था।

"उस रात मैं एक कोठी के सामने बेहोश होकर गिर पड़ा। कोठी किसी सरदार जी की थी। वह मुझे दुखी देखकर उठा लाये। मुझे दूध पीने को दिया। जब होश आया तो उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान या सिक्ख। सिर्फ़ यह पूछा—'क्यों भाई, अच्छे तो हो ?'

"मैं कई दिन वहाँ रहा। सरदार जी, उनकी बीवी और बच्चे सब मुझसे बहुत अच्छी तरह पेश आते थे। मैंने उन्हें बता दिया कि मेरी याद जाती रही है ! और मुझे पता नहीं कि मैं कौन हूँ। उन्होंने मेरे साथ अच्छा ही बरताव किया। फिर कुछ दिन बाद उनके कितने ही सम्बन्धी रावलपिंडी ज़िले से आ गये। उन बेचारों पर वहाँ के मुसलमानों ने बड़ा जुल्म किया था। उन्होंने अपने दोस्तों, पड़ोसियों और अपने सगे-सम्बन्धियों को अपनी आँखों के सामने क़त्ल होते देखा था। उन सब के दिल मुसलमानों के खिलाफ़ नफ़रत और गुस्से से भरे थे। उनकी ज़बान से रावलपिंडी की घटनाएँ सुनकर खुद मेरा दिल मुसलमानों से नफ़रत करने लगा। सरदार जी ने उन लोगों को मेरे बारे में बता दिया था कि मैं मुसीबत का मारा हुआ हूँ, जिसकी याद जाती रही है। उनमें से कई बड़े-बूढ़ों ने मुझसे हमदर्दी जतायी, लेकिन चन्द नौजवान मुझे शक की नज़रों से देखते रहे और एक रात मैंने उनमें से एक को कहते सुना—'क्या मालूम यह

आदमी बन ही रहा हो। और अगर याद खोने की बात सच्ची भी है तो कौन कह सकता है कि यह मुसलमान ही हो। मैंने उनकी आँखों में बदले की ख़ूनी चमक देखी और मैंने सोचा शायद मैं सचमुच मुसलमान ही हूँ। शायद ज़ख़्मी होने से पहले मैंने भी वे सारे ज़ुल्म किये हों जो इन बेचारों पर हुए हैं। शायद मैं इसी क़ाबिल हूँ कि मुझसे बदला लिया जाय...उसी रात मैं वहाँ से भाग गया।

"फिर कई दिन के फ़ाके, सड़कों की ख़ाक, 'यह कैम्प मुसलमानों के लिए है,' 'तुम्हारा नाम क्या है,' 'तुम्हारा धर्म क्या है,' 'कहाँ से आये हो...?'

"जब कहीं पनाह न मिली और कमज़ोरी के मारे चलना मुश्किल हो गया तो मैं जामा मसजिद की सीढ़ियों पर लेट गया। सामने मैदान में हज़ारों मुसलमान पड़े हुए थे जो पूर्वी पंजाब से भागकर आये थे। दिन भर पड़े रहने के बाद मुझे होश भी न रहा। न जाने कब तक यों ही पड़ा रहा। एक बार होश आया तो ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई मेरे पास ही खड़ा हो। आँख उठाकर देखा तो एक बच्चा था। मुश्किल से आठ बरस का होगा। कहने लगा—'लो, यह खा लो। अम्माँ ने भेजा है कि किसी भूखे को खिला आओ।' बिना सहारे के मेरे लिए उठना भी मुश्किल था। उस बेचारे ने हाथ का सहारा दिया तो मैं उठकर बैठ गया। उफ़, कितनी मज़ेदार थीं वे रोटियाँ और वह दाल। खाना खाकर मैंने बच्चे से कहा—'जीते रहो बेटा।' और मुहब्बत से उसके नन्हे हाथ को छुआ तो वह बोला—'अरे, तुम्हें तो बुख़ार है, चलो मेरे अब्बा के पास चलो। वे हकीम हैं, तुम्हें दवा देंगे, तुम फ़ौरन अच्छे हो जाओगे...'

"हाँ, तो वह मुझे अपने घर ले आया। हकीम जी बेचारे बड़े

भले आदमी थे। पाँच वक्त नमाज़ पढ़ते और कितने ही आदमियों का हर रोज़ मुफ़्त इलाज करते। दवा अपने पास से बिना दाम देते। उन्होंने दो ही दिन में बुखार उतार दिया। पर मेरी खोयी हुई याद वे भी वापस न ला सके। मैंने उन्हें अपना पूरा हाल बता दिया था। मैंने एक दिन उनसे कहा—'हकीम जी, हो सकता है कि मैं असल में हिन्दू ही होऊँ। आप कहें तो आपके घर से मैं कहीं चला जाऊँ।' बोले—'हिन्दू है तो क्या हुआ, खुदा का बन्दा तो है...'

"और फिर एक दिन हकीम जी का लड़का किसी भूखे व लाचार को जामा मसजिद खाना खिलाने गया तो शाम तक वापस न आया। रात को पता चला कि वापसी में दरीबे से आ रहा था कि उसे हिन्दुओं ने क़त्ल कर डाला। घर में कोहराम मच गया। हकीम जी की बीवी को ग़श पर ग़श आने लगे। अब मेरे लिए उस घर में रहना भी मुश्किल हो गया। हर वक्त मुझे यही ख़याल खाये जाता कि कौन जाने शायद मैं हिन्दू ही होऊँ। शायद मैंने भी हकीम जी के बच्चे की तरह और मुसलमान-बच्चों को क़त्ल किया हो। आख़िर मैं वहाँ से भी भाग निकला।

अब दिल्ली में चारों तरफ़ क़त्ले-आम हो रहा था। गोलियों की बारिश हो रही थी। बचता-बचाता स्टेशन पहुँचा। सुना था, बम्बई में थोड़ी-बहुत शांति है। बम्बई की ट्रेन में बैठ गया। बराबर में एक हिन्दू नौजवान बैठा था। गाड़ी चली तो वह बोला—'तुम कौन हो भाई?' मैंने कहा—'मुझे याद नहीं कौन हूँ। शायद हिन्दू हूँ, शायद मुसलमान हूँ।' उसने कहा—'सुना है रास्ते में मुसलमान मुसाफ़िरों पर बहुत जुल्म किया गया, तुम्हारे चेहरे पर दाढ़ी है, इसलिए पूछता हूँ।' मैंने अपना पूरा हाल बता दिया। पर उसके चेहरे से मालूम होता

था कि उसे यक़ीन नहीं आया और वह मेरी बढ़ी हुई दाढ़ी को शक की नज़र से देखता रहा। फिर उसने बताया कि लाहौर में उसकी बहुत बड़ी दुकान थी, जो सारी की सारी लुट गयी। कितने ही सगे-सम्बन्धी मारे गये, कितने ही लापता हो गये। अब वह रिलीफ़ कमेटी से थर्ड क्लास का किराया लेकर बम्बई में क़िस्मत आज़माने जा रहा है। हाँ, तो भरतपुर में लाइन के पास पत्थर रखकर गाड़ी रोक ली गयी। डिब्बे से मुसलमान मुसाफ़िरों को घसीट-घसीट कर निकाला गया। हमारे डिब्बे में भी हत्यारे घुस आये, लेकिन मेरे नौजवान साथी ने मुझे चादर से ढाँक दिया। जब उन्होंने पूछा कि यह कौन है तो उसने कह दिया कि यह तो मेरा भाई है, बेचारा पहले ही लाहौर में ज़ख्मी हो चुका है। वे चले गये। गोलियाँ चलने की आवाज़ आयी, फिर कुछ चीखने-चिल्लाने की आवाज़ें हुईं और फिर ट्रेन चल पड़ी। मैं बम्बई पहुँच गया लेकिन यहाँ भी इस मनहूस सवाल ने मेरा पीछा न छोड़ा कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान। मैं सोचता—हिन्दू कौन है? मुसलमान कौन, सिक्ख कौन? हिन्दू वह नौजवान है जिसने एक दाढ़ी वाले की जान बचायी, जिसको वह मुसलमान समझता था या वे दरीबे वाले जिन्होंने हकीम जी के मासूम बच्चे को क़त्ल कर डाला? मुसलमान हकीम जी हैं या वे सब जिन्होंने रावलपिंडी में सरदार जी के रिश्तेदारों को क़त्ल किया और उनकी औरतों को बेइज्ज़त कर डाला? सिक्ख सरदार जी हैं या वह सूरमा जिन्होंने अमृतसर में सैकड़ों मुसलमानों को घरों में भून डाला? फिर भी वही सवाल—'हिन्दू हो?' 'मुसलमान हो?'

"वही सवाल—'तुम कौन हो?'...'तुम हिन्दू हो?'...'तुम मुसलमान हो...?'

"ये सवाल मेरे दिमाग़ में हर वक्त गूँजते रहते—मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ?'हिन्दू हूँ ? मुसलमान हूँ ? सिक्ख हूँ ? मैं कौन हूँ ? चलते-फिरते, उठते-बैठते सोते-जागते यही सवाल मेरा पीछा करते। ख़्वाब में मुझे दहकते हुए अंगारों जैसी आँखों वाले प्रेत घेर लेते और आग में तपे हुए भाले मार-मार कर पूछते—'तू कौन है ? बोल, तू हिन्दू है या मुसलमान ?' और मैं नींद में चिल्ला उठता—'मुझे नहीं मालूम मैं कौन हूँ। मुझे छोड़ दो, मैं कुछ नहीं हूँ। मैं सिर्फ़ एक इंसान हूँ।'

"बम्बई में पंजाब से आये हुए लोगों के लिए बड़े-बड़े कैम्प खुले थे। सिक्ख हो तो ख़ालसा कालेज जाओ, हिन्दू हो तो रामकृष्ण आश्रम में शरण लो, मुसलमान हो तो भिंडी बाज़ार में मुस्लिम लीग के दफ़्तर का रुख़ करो। पर मैं कहाँ जाऊँ ? मैं हर जगह से दुतकार दिया गया था। मैं, जिसको नहीं मालूम कि मैं कौन हूँ ?

"भीख के टुकड़े भी मिलने बन्द हो गये। हिन्दू हो या मुसलमान, हर एक भीख देने से पहले पूछता था कि तुम कौन हो ? मैं भूखा मरने लगा और फिर एकदम से यह सवाल मेरे दिमाग़ पर छा गया कि मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ—हिन्दू या मुसलमान ? मुसलमान या हिन्दू ? जब तक कि इस सवाल का जवाब न मिले, जीना नामुमकिन था।

"एक भले आदमी ने कहा कि डाक्टर मसानी के पास जाओ। वही तुम्हारी याद वापस ला सकता है। डाक्टर मसानी का नाम तो तुमने सुना होगा। वह दिमाग़ी रोगों के इलाज का माहिर है। वह चीर फाड़ से नहीं, बातों से दिमाग़ी ख़राबियों का इलाज करता है।

"मुझे एक शानदार कमरे में एक नर्म कौच पर लिटा दिया गया। ऊपर बड़े पावर का बल्ब जल रहा था। चारों तरफ़ की हर एक

चीज़ सफ़ेद—दीवारें, अलमारियाँ, डाक्टर का कोट, नर्स की वर्दी..."

"डाक्टर ने नर्मी से कहा—'आँखें बंद कर लो। दिमाग़ पर ज़ोर न डालो। ढीला छोड़ दो। फिर जो कुछ भी तुम्हें याद आये, वह बोलते रहो। चाहे कितना ही बेमानी और बेकार ख़याल क्यों न हो।' यह कहकर वह काग़ज़ पेंसिल ले, मेरे पास ही बैठ गया। मैंने आँखें बंद कर लीं...

"मैंने कहना शुरू किया—'हरे भरे लहलहाते खेत...दूर तक फैले हुए...नीला आसमान...।'—'शाबाश!' डाक्टर बोला और कागज़ पर पेंसिल चलने की आवाज़ आयी। 'बोलते रहो।' और मैं बोलता गया—'नीला आसमान...एक नदी...। बरसात में पानी चढ़ा हुआ...नदी में किश्तियाँ...एक नहर...नहर में नहाते हुए बच्चे... उन बच्चों में मैं भी।' 'शाबाश! शाबाश!' डाक्टर की आवाज़ जैसे बहुत दूर से आयी।

"खेत में फ़सल कटी हुई...सुनहरे गेहूँ का एक ढेर...बहुत बड़ा ढेर। आसमान तक...बैसाखी का मेला...दूर कोई बाँसुरी बजा रहा है...ढोलक की आवाज़ क़रीब होती जा रही है...नीम के तले औरतें बैठी गीत गा रही हैं'...'शाबाश,' डाक्टर बोला—'कौन सा गीत गा रही हैं?

मैंने उसे बताया ----'ओ, जदों माही याद आवे, हाय हाये, चन्न वे, इंजू डुल्ल डुल्ल पैंदे ने।'

"यह गीत हिन्दू औरतें गाती हैं या मुसलमान औरतें?' डाक्टर ने पूछा। मैंने कहा—'पंजाबी औरतें गाती हैं। देखो वे सब मिलकर

अन्तरा उठा रही हैं।' 'वह औरतें कौन हैं, हिन्दू या मुसलमान ?' 'पंजाबी—हिन्दू भी, मुसलमान भी।'

"डाक्टर की भारी साँस की आवाज़ आयी। जैसे इस जवाब से उसका बना-बनाया काम बिगड़ गया। फिर वह बोला—'शाबाश बोले जाओ, जो कुछ भी याद आये।'

"एक बहुत बड़ा बाग़... मेला-सा लगा हुआ...रंगीन शलवारें और क़मीजें...दुपट्टे हवा में लहराते हुए...चंचल लड़कियों के ठहाके... बच्चों का शोर ..।'

'शाबाश, शाबाश, बोले जाओ...चुप क्यों हो गये ?'

'अब कुछ सुनायी नहीं देता, कुछ दिखायी नहीं देता।'

'क्यों क्या हुआ ?'

'मेरे सिर में दर्द हो रहा है। हर तरफ़ अँधेरा छाया हुआ है,

'एक अजीब सा शोर...'

'शाबाश ! शाबाश !'

'आग लग रही है। हर तरफ़ शोले ही शोले...शोर बढ़ता जा रहा है।'

'शाबाश ! यह फ़सादियों का शोर है। ये वही लोग हैं, जिनके जुल्म ने तुम्हारे घर-बार तबाह कर डाले। तुम्हारे रिश्तेदारों का खून कर डाला। तुम्हारे दिमाग़ को बिगाड़ दिया। सुनो, ग़ौर से सुनो। ये क्या कर रहे हैं ?'

'कुछ सुनायी नहीं देता। शोर बहुत है। बस एक लफ़्ज़ समझ में आता है—मारो ! मारो !! मारो !!!...मुझे बचाओ डाक्टर साहब !'

'घबराओ नहीं, फिर ग़ौर से सुनो। यह लोग जो आग लगा रहे

हैं, शोर मचा रहे हैं, ये हिन्दू हैं या मुसलमान ? अभी पता लग जाता है कि तुम कौन हो।'

"और मेरे दिमाग़ में जैसे ख़तरे की घंटी बजी। अभी मालूम हो जायगा, मैं कौन हूँ, अभी मालूम हो जायगा, मैं कौन हूँ—मैं मुसलमान हूँ, मैंने सरदार जी के घर वालों का, हज़ारों बेगुनाह सिक्खों का ख़ून किया है...'

"मैं हिन्दू हूँ...मैंने हकीम जी के बच्चे और सैकड़ों मासूम मुसलमान बच्चों को क़त्ल किया है।'

"नहीं ! नहीं !!' मैं चिल्लाया—'मैं नहीं मालूम करना चाहता कि मैं कौन हूँ।' मैंने आँखें खोल दीं। डाक्टर की नर्म आवाज़ के जादू को तोड़ डाला। मैं कौच से उठ खड़ा हुआ। मैं डाक्टर को हैरान और परेशान छोड़ कर चला आया।

"मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ। मैं मुसलमान हूँ, मैं हिन्दू हूँ। मैं क्या हूँ ! कुछ भी नहीं हूँ। मैं मुसलमान हूँ, मैं हिन्दू हूँ।

" रास्ते भर मेरे कानों में यही आवाज़ें आती रहीं।

" न जाने मैं किस रास्ते, किस इलाके से होकर चला जा रहा था कि किसी ने टोका—'ए किधर जाता है ? कौन है तू ?' वह एक मुसलमान मवाली था। उसकी आँखों में ख़ून, उसके हाथ में एक छुरा था। मैंने उसका सवाल सुना, मगर समझा नहीं। उसकी तरफ़ एक नज़र देखकर फिर अपने रास्ते चल पड़ा। मैं उसी तरह बड़बड़ाये जा रहा था—'मैं हिन्दू हूँ, मैं...'

" अभी मैं 'मैं मुसलमान हूँ,' न कह पाया था कि उसका छुरा मेरी कमर में धँस गया। यही घाव जो आप देख रहे हैं। 'काफ़िर का

बच्चा' मैं चकराया, मगर गिरते-गिरते सम्हल गया। चलता ही रहा। अगरचे मेरे पौछे ख़ून की एक गहरी लकीर सड़क पर पड़ती जा रही थी। तुम्हें यक़ीन नहीं आता ? मैं मर रहा हूँ, मुझे तुमसे सचाई का सर्टिफ़िकेट नहीं चाहिए,...

"हाँ, तो गिरता पड़ता किसी और सड़क पर निकल गया। इस बार एक हिन्दू गुण्डे ने मुझे रोका। 'ऐ, कौन है तू ?'

"मैं मुसलमान हूँ, मैं.. ' और अभी 'हिन्दू हूँ' न कह पाया था कि उसकी तेज़ धार वाली खोखरी ने मेरा पेट फाड़ दिया...'

" तो इस तरह ये दोनों घाव खाये हैं मैंने। मुझे हिन्दू मुसलमान दोनों ने मारा है, तभी तो मैं कहता हूँ डाक्टर साहब, तुम मुझे नहीं बचा सकते। और न तुम सब बचा सकते हो जो मेरे मरने की राह देख रहे हो। और सच्ची बात यह है कि तुम लोग मुझे बचाना चाहते ही नहीं। अगर मैं मरते-मरते यह कह दूँ कि मैं हिन्दू हूँ तो ये हिन्दू वीर फ़ौरन मेरे बदले चार मुसलमानों को क़त्ल करने का बीड़ा उठा लेंगे और अगर मैं कहूँ कि मुसलमान हूँ तो ये बहादुर मुसलमान पूरी हिन्दू क़ौम से मेरा बदला लेने को तैयार हो जायँगे। और मैं हँस रहा हूँ, क्योंकि मुझे याद आ गया है कि मैं कौन हूँ। अपनी घर वाली की आँखें, अपने बच्चे की बातें, अपना खेत, अपना घर-बार, जो जल चुका है—मुझे सब याद आ गया है। अब, जब मैं मर रहा हूँ...तुम सब बेकार इन्तज़ार कर रहे हो। मेरी ज़बान से हरगिज़ न निकलेगा कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान, न मेरे हिन्दू क़ातिल को मालूम होगा, न मुसलमान क़ातिल को कि उनमें से किसने ग़लती से अपनी ही क़ौम के आदमी को मार डाला। उनसे मैं यही बदला ले रहा हूँ। उनसे ही नहीं, उन जैसे हज़ारों हिन्दुओं, मुसलमानों

और सिक्खों से, जिन्होंने मेरे देश पंजाब को मटियामेट कर डाला। मेरी बूढ़ी भारत माँ के सफ़ेद बालों में ख़ून की मेंहदी मल दी। मैं हिन्दू था या मुसलमान ? मुसलमान था या हिन्दू ? यह सवाल एक भूत बनकर उनके दिमाग़ों पर मँडलाता रहेगा। यह सवाल उनके दिन का चैन और रातों की नींद उड़ा देगा। यह सवाल उनको, उनकी संतान को और उनकी संतान की संतान को कभी चैन से न बैठने देगा। मेरा बदला बहुत भयानक होगा...जाओ भाई जाओ ! अपना काम देखो। मेरे मरने की राह कब तक देखोगे। मैं तो देर का मर चुका हूँ। यक़ीन नहीं होता तो सामने वाले डाक्टर को बुलाकर मुआइना करा लो। अब तो मेरी लाश भी ठंडी हो चुकी है। यह और बात है कि मैं कभी नहीं मरूँगा।

"अब भी तुम जानना चाहते हो कि मैं क्यों हँस रहा हूँ ?"

———

चमत्कार

चन्द ही घंटों में लाडो दाई की ज़बानी यह ख़बर सारे प्रजापुर गाँव में फैल गयी।

छुट्टी का दिन था। लोगों की टोलियों की टोलियाँ रामू के झोंपड़े की तरफ़ चल पड़ीं कि देखें, लाडो सच कहती है या झूठ।

'भला ऐसा भी कभी हो सकता है?'

'भगवान की लीला है, भइया। जिसे देना चाहता है, छप्पर फाड़ कर देता है।'

'रामू की बहू बड़ी किस्मत वाली निकली। एक, न दो...'

'ही-ही-ही-ही।'

'अबे दाँत क्यों निकालता है! इसमें हँसने की क्या बात है!

'कुछ नहीं, मैं सोच रहा था, रामू देखने में तो यों ही लगता है—मरियल सा। मगर बड़ा मर्द का बच्चा निकला।'

'सुना है, साला बड़ा खुश है। सवेरे से ही भंग पिये पड़ा है।

'होना भी चाहिए, कुछ करके दिखाया है उसने। एक तू है कि आज तक एक भी...'

'अरे, तो इसमें उसने क्या तीर मारा है, शाबाशी तो उसकी बहू को देनी चाहिए...'

'क्यों पंडितजी, विलायत में कभी हुआ है ऐसा?'

'अरे, वे क्या खाकर हम हिन्दुस्तानियों का मुकाबला करेंगे। वहाँ के तो न मर्द-मर्द हैं, और न औरतें औरतें।'

'तब तो रामू की बहू का सारी दुनिया में नाम हो जायेगा।'

'और क्या, और साथ में हमारे गाँव का।'

उस दिन पोस्ट आफ़िस का हरकारा जब प्रजापुर गाँव में चिट्ठियाँ बाँटने आया तो उसने यह ख़बर सुनी। शहर वापस जाकर उसने पोस्ट मास्टर को सुनायी। पोस्ट मास्टर ने अपने पड़ोस में सिविल हस्पताल के डाक्टर कुन्दनलाल को जा सुनायी। शहर काँग्रेस कमेटी के सभापति लाला वंशीधर, जो बवासीर के मरीज़ थे, डाक्टर के पास अपने लिए दवा लेने आये तो उन्होंने यह ख़बर सुनी। वहाँ से वे सीधे गांधी-गार्डन में स्वतन्त्रता उत्सव के सिलसिले में एक सभा का सभापतित्व करने जा रहे थे। रास्ते में उन्हें मुंशी बृजनारायण मिल गये, जो म्युनिसपेल-स्कूल में पढ़ाते थे और साथ में 'देश दीपक' दैनिक के स्थानीय संवाददाता भी थे। उन्होंने कहा—'लालाजी,' आज भाषण में जो कुछ कहने वाले हैं, वह पहले से ही बता दीजिए तो मैं

अभी तार दे दूँ, वरना सभा ख़त्म होते-होते देर हो जायगी। फिर कल सवेरे के अख़बार में न छप सकेगी।' लालाजी ने फ़ौरन जेब से निकाल कर अपने भाषण का लिखा हुआ खुलासा मुंशीजी को दे दिया। इधर-उधर की बातों में उन्होंने डाक्टर से सुनी हुई ख़बर भी मुंशी जी को सुना दी।

'सच, लाला जी! मगर क्या ऐसा हो सकता है?'

'हाँ भाई, होगा ही। मुझे तो अभी डाक्टर साहब ने बताया है।'

'तब ज़रूर ठीक होगा। इतना स्पेशल केस है, शायद डाक्टर साहब ने खुद किया होगा।'

'हाँ, और क्या।'

अगले दिन 'देश दीपक' में लाला वंशीधर के भाषण की रिपोर्ट तो न छपी, मगर पहले पृष्ठ पर ही मोटे-मोटे अक्षरों में यह ख़बर प्रकाशित हुई—

भा र त मा ता को कि सा न औ र त की
अ नो खी भें ट
"१५ अगस्त को पाँच बच्चों को जन्म दिया।"

हमारे भीमनगर के संवाददाता ने ख़बर दी है कि पास के गाँव प्रजापुर में एक किसान औरत ने कल सवेरे पूरे पाँच बच्चों को जन्म दिया है। इसमें तीन लड़के और दो लड़कियाँ हैं। माँ और बच्चे सब ख़ैरियत से हैं।

बच्चों की पैदाइश के वक्त भीमनगर के डा० कुन्दनलाल ख़ुद मौजूद थे और ऐसे मुश्किल 'डिलिवरी केस' का सेहरा उन्हीं के सिर है। इस ख़बर से प्रजापुर में ही नहीं, आसपास के सभ

कस्बों और गाँवोंमें खुशी और हैरतकी लहरें दौड़ रही हैं और लोगों की टोलियों की टोलियाँ इन पाँच बच्चों और उनकी माँ को देखने चली जा रही हैं। भीमनगर शहरमें भी इस ख़बर की चर्चा हो रही है और बहुतसे ऐसे भी हैं जो सुनी-सुनायी बातों पर विश्वास करने को तैयार नहीं, जब तक कि इसका उन्हें प्रमाण न मिल जाय। इस सिलसिले में सम्मानित नागरिकों का एक जत्था लाला वंशीधर, सभापति नगर कांग्रेस कमेटी के नेतृत्व में बहुत जल्द प्रजापुर जा रहा है।

कुछ धार्मिक मंडलियों में इस अजीब घटना को काफ़ी महत्व दिया जा रहा है और कहा जाता है कि पाँच जुड़वाँ बच्चोंका इकट्ठा पैदा होना एक 'चमत्कार' ही हो सकता है। मगर काँग्रेसी इस 'चमत्कार' को विशेष राजनीतिक रंगमें देख रहे हैं और कल आज़ादी-उत्सव के मौके पर भाषण देते हुए लाला वंशीधर ने फ़र्माया कि प्रजापुर के हमारे एक किसान भाई रामूकी बहू लाजो ने पन्द्रह अगस्तके शुभ दिन इन पाँच बच्चों की अनोखी भेंट भारत-माता के चरणों में रखी है।'

'देश दीपक' से यह ख़बर प्रेस-ट्रस्ट और दूसरी समाचार एजेन्सियों के ज़रिये हिन्दुस्तान के साढ़े सात सौ अख़बारों में छपी। विदेशी संवाददाताओं ने फ़ौरन तार खड़खड़ाये और कुछ घंटे में यह ख़बर सारी दुनिया में फैल गयी। एक सौ पच्चीस हिन्दुस्तानी अख़बारों और पचपन विदेशी अख़बारों ने इस घटना पर सम्पादकीय लिखे। प्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्र 'कांग्रेस टाइम्स' ने लिखा कि 'पन्द्रह अगस्त के दिन एक देशभक्त किसान औरत ने इन जुड़वाँ बच्चों को जन्म देकर भारत माता की सन्तान में पाँच जानों की बढ़ती

ही नहीं की, बल्कि साबित कर दिया है कि भारत के सब किसान आज़ादी का मोल करते हैं और दिलोजान से अपनी राष्ट्रीय सरकार के साथ हैं। हम अपने किसान भाई रामू और उसकी धर्मपत्नी लाजो को बधाई देते हैं, और उनके शानदार उदाहरण को कम्युनिस्टों के सामने रखना चाहते हैं, जो बातें तो बड़ी-बड़ी बनाते हैं, मगर कर्मभूमि में एक चुहिया का बच्चा भी पैदा नहीं कर सकते।'

साप्ताहिक 'देश सैनिक' ने एक जोशीले सम्पादकीय में लिखा कि 'पाँच जुड़वाँ बच्चे पैदा करके हमारी बहन लाजो ने भारत की लाज रखी है, वरना आज तक कैनेडा के सामने हमारी गर्दन शर्म से झुकी हुई थी।'

कैनेडा से खबर आयी कि डीऔन घराने की पाँचों जुड़वाँ लड़कियों ने प्रजापुर के जुड़वाँ बच्चों को मुबारकबाद का तार भेजा है।

'भारत भीष्म' ने लिखा कि कैनेडा वाले यह न समझें कि वे हम भारतवासियों की बराबरी कर सकते हैं। पाँच जुड़वाँ बच्चों को जन्म देना कोई बड़ा कमाल नहीं! मगर वे यह मत भूलें कि हमारी एक बहन ने जिन पाँच जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया है, उनमें एक न दो, पूरे तीन लड़के हैं।'

एक और दैनिक 'राष्ट्रीय सेवक' ने लिखा कि 'अगर हम सब भारत के रहने वाले रामू और लाजो के पद-चिन्हों पर चलें तो बहुत जल्द भारतवासियों की गिनती इतनी हो जायगी कि हम सारी दुनिया पर छा सकते हैं। हम सरकार को सलाह देते हैं कि योग्य डाक्टरों की एक कमेटी बनाये जो इस बात की छान-बीन करके ऐसा तरीका बताये जिससे हर भारतीय पति रामू और हर भारतीय स्त्री लाजो बन सके।'

इस पर सोशलिस्ट साप्ताहिक 'जनता गज़ट' ने अपने सम्पादकीय में लिखा कि 'हमारे देश की आबादी पहले ही बहुत बढ़ी हुई है। मुल्क में खाने को काफ़ी अनाज नहीं है। क्या इकट्ठे पाँच-पाँच जुड़वाँ बच्चे पैदा करके हम बेकारी तथा भूख को और भयानक बनाना चाहते हैं? सरकार इन ढकोसलों से जनता का ध्यान खुराक और मकान की माँगों से नहीं हटा सकती।'

कम्युनिस्ट साप्ताहिक 'लाल सलाम' ने 'जनता गज़ट' के विरुद्ध लिखते हुए कहा कि 'कम्युनिस्ट सांइटिस्ट, लैनिन और स्तालिन के बताये हुए रास्ते पर चलते हुए, मालथस के गन्दे सिद्धान्त को झूठा साबित कर चुके हैं। अगर देश में खाने-पीने की कमी हो तो उसकी वजह यह नहीं है कि आबादी बढ़ गयी है, बल्कि नेहरू-पटेल सरकारकी जनता-विरुद्ध पॉलिसी है, जिसके अनुसार ब्लैक-मारकेटके साँपों को दूध पिलाया जाता है और किसान-मज़दूरों के बच्चे दूध के लिए बिलखते हैं। हम कामरेड रामू और कामरेड लाजो को मुट्ठी भींच कर लाल सलाम करते हैं और उन्हें यकीन दिलाते हैं कि तैलंगाना से लेकर कोरिया तक सारे जगत की जनता उनको मुबारकबाद दे रही है कि उन्होंने बढ़ती हुई जनता की फ़ौज में पाँच लाल सिपाहियों की बढ़ती की है।'

'शंकर्स वीकली' ने एक कार्टून छापा जिसमें एक किसान औरत अपने पाँच बच्चों के लिए राशन माँग रही है और उसे देखकर खाद्य-मंत्री श्री कन्हैयालाल मुन्शी की गांधी टोपी घबराहट के मारे हवा में उड़ गयी है।

'डेली कॉल' के हास्य-स्तम्भ में एक पैरा छपा—'सुना गया है

है कि 'अधिक अनाज उगाओ' और 'वृक्ष लगाओ' की बजाय सरकार अब 'अधिक बच्चे पैदा करो' की स्कीम पर विचार कर रही है।'

'आल इंडिया विमंस कान्फ्रेन्स' ने 'लाजो डे' मनाने का ऐलान किया। प्रेज़ीडेंट राजेन्द्रप्रसाद ने रामू को बधाई का तार भेजा। हिन्दू महासभा के एक लीडर ने एक बयान में कहा कि 'जब तक भारत में रामू जैसे पुरुष और लाजो जैसी स्त्रियाँ हैं, हिन्दू धर्म, हिन्दूजाति और हिन्दू संस्कृति पर कोई आँच नहीं आ सकती।'

पाकिस्तान के एक पत्र 'सब्ज़ परचम' ने लिखा कि 'भारत में इकट्ठे पाँच-पाँच बच्चों का होना पाकिस्तान के लिए ख़तरे की घंटी है। पाकिस्तान के मर्द और औरतें काफ़िरों के इस चैलेंज का क्या जवाब दे रहे हैं!'

न्यूयार्क से ख़बर आयी कि अमरीका के चार डाक्टर हवाई जहाज़ से रामू और लाजो की डाक्टरी परीक्षा करने हिन्दुस्तान आ रहे हैं। मास्को के एक पत्र ने इस ख़बर पर आलोचना करते हुए लिखा कि रामू और लाजो ही को नहीं, हिन्दुस्तान की सारी जनता को अमरीकी डाक्टरों की साम्राजी चाल-बाज़ियों से होशियार रहना चाहिए।

लखनऊ, नागपुर और बम्बई के तीन ज़च्चाघरों के नाम 'लाजो मेटर्निटी होम' रखे गये।

अमरनाथ की यात्रा से लौटकर एक योगी महाराज ने बयान दिया कि उस बर्फ़ीली गुफा में इक्कीस दिन की तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान हुआ था कि एक किसान-स्त्री पाँच बच्चे

इकट्ठे जनेगी और उनमें से एक भगवान विष्णु का अवतार होगा और उसकी पहचान यह होगी कि उसके बाँयें पैर पर एक गोल निशान होगा। इस पर बहुत से योगी प्रजापुर जा पहुँचे और बच्चों के पैरों की जाँच की। उनमें से एक ने ऐलान किया कि हर बच्चे के पैर पर गोल निशान है। एक ने कहा कि किसी के पैर पर भी नहीं है। और बाकी की राय थी कि सिर्फ़ एक के पैर पर है। मगर उनमें से किसी को एक बच्चे के पैर पर यह निशान नजर आता और किसी को दूसरे के।

तिब्बत से एक ख़बर आयी कि वहाँ एक औरत ने पूरे छः बच्चों को जन्म दिया है, मगर बाद में झूठी साबित हुई। फिर रूस से ख़बर आयी कि साइबेरिया में एक औरत ने सात बच्चे इकट्ठे पैदा किये, मगर अमरीकन पत्रों ने फ़ौरन इस ख़बर को झूठा बता दिया।

एक हफ़्ते तक सब अख़बार रामू और लाजो के बच्चों की बातों से भरे रहे और एक पत्रकार ने हिसाब लगाया कि दुनिया के सब पत्रों को मिलाकर अस्सी हज़ार पाँच सौ सात कालम इन बच्चों के बारे में प्रकाशित हुए और इस तरह उन्हें कोई एक करोड़ रुपये की मुफ़्त की पब्लिसिटी मिली। इन्हीं दिनों में 'रामू-लाजो मित्र मंडल' के नाम से एक संस्था बनायी गयी जिसकी तरफ़ से एक डैपुटेशन प्रजापुर भेजने का फ़ैसला किया गया। इस मंडल के ख़र्चे के लिए एक लाख रुपये की अपील की गयी और बहुत जल्द उसमें से चालीस हज़ार रुपया जमा हो गया। इसमें दस हज़ार रुपये एक मशहूर देशभक्त सेठजी ने दिये जिनको यह अफ़सोस था कि उनकी सात बीवियों में से किसी ने भी उन्हें एक बच्चे की भेंट तक न दी थी।

मंडल की सभानेत्री लेडी नीलकंठ सुपारीवाला चुनी गयी, जो बीस साल के वैवाहिक जीवन के बाद भी अब तक निःसंतान थी और बच्चों की बजाय कुत्ते पालती थी। डैपुटेशन के आठ मेम्बर चुने गये, जिनमें से एक डॉक्टर था, एक वकील, एक प्रोफ़ेसर, तीन कारख़ानों के मालिक थे और दो सोसाइटी की फैशनेबल औरतें। एक मनचले रिपोर्टर ने डैपुटेशन के नामों का ऐलान करते हुए लिखा कि इन आठों के कुल मिलाकर पाँच ही बच्चे थे और इस तरह वे सब मिलकर रामू और लाजो की बराबरी कर सकते थे।

तेरह हज़ार रुपये पर इस डैपुटेशन के लिए एक हवाई जहाज़ किराये पर लिया गया। बारह सौ रुपये के हार-गजरे तथा गुलदस्ते रामू और लाजो को पेश करने के लिए ख़रीदे गये। नौ हज़ार रुपये मेम्बरों को सफ़र-ख़र्च के लिये दिये गये। सात हज़ार मंडल के दफ़्तर की पगड़ी के लिए दिया गया। बाकी रुपयों में से एक हज़ार रुपये के खिलौने रामू और लाजो के बच्चों के लिए ख़रीदे गये जो मंडल की कमेटी के मेम्बर सेठ जौहरीचन्द के कारख़ाने में बने थे। इस तरह उनके कारख़ाने को न सिर्फ छः सौ रुपये का लाभ हुआ बल्कि जब इन खिलौनों की तस्वीरें पत्रों में छपीं तो हज़ारों रुपये का इश्तहार भी मुफ़्त हुआ और खिलौनों के इस कारख़ाने की बिक्री पहले से तिगुनी हो गयी। दो हज़ार के कपड़े बच्चों के लिए सिलवाये गये जिसमें से कुछ रुपया 'करोड़ीमल क्लाथ' मिल को मिला और कुछ 'टीकाचन्द टेलरिंग हाउस' को। इस तरह पूरा चालीस हज़ार का हिसाब बराबर करके डैपुटेशन हवाई जहाज़ से भीमपुर पहुँचा और वहाँ से मोटरों में चढ़कर प्रजापुर।

साथ में कई दर्जन रिपोर्टर और प्रेस-फ़ोटोग्राफ़र भी थे। जब उनकी मोटरें रामू के झोपड़े के पास पहुँचीं तो आवाज़ सुनकर रामू झोपड़े से बाहर निकल आया। हमेशा की तरह वह भंग के नशे में चूर था, उसकी आँखें लाल हो रही थीं। इस भीड़ को देखकर वह लड़खड़ाती हुई आवाज़ में बोला—'क्यों, क्या है!'

लेडी नीलकंठ सुपारीवाला ने फ़ौरन एड्रेस पढ़ना शुरू कर दिया—'इस शुभ अवसर पर हम भारत की पैंतीस करोड़ जनता की ओर से श्री रामू और श्रीमती लाजो को बधाई देते हैं। बेशक उन्होंने हम देश की शान में चार चाँद लगा दिये हैं। आज हम श्रीमती लाजो के रूप में भारत-माता का रूप देख रहे हैं। ये पाँच बच्चे रामू और लाजो ही की आँखों के तारे नहीं, सारे देश के राजदुलारे हैं। वे हमारा अनमोल खज़ाना हैं, जिसको देखकर सारी दुनिया की आँखें चकाचौंध हुई जा रही हैं। आज से इन बच्चों की देख-भाल, इनकी शिक्षा, दीक्षा शादी-ब्याह सारे देश की ज़िम्मेदारी है। हम श्री रामू और श्रीमती लाजो से प्रार्थना करते हैं कि वे ये खिलौने और कपड़े जो उनके देश वालों ने इन बच्चों के लिए भेजे हैं, स्वीकार करें!'

रामू जो अब तक अधखुली आँखों से उन सबको खड़ा देख रहा था, अब एक भयानक ठहाका मारकर चिल्ला पड़ा—'खिलौने? कपड़े! जाओ—पहनाओ उन्हें ये कपड़े।' लेडी नीलकंठ सुपारीवाला के हाथ से रेशमी फ़्रॉक छीनकर उसने आवाज़ दी—'लाजो—अरी ओ लाजो—रोती क्यों है! देख तेरे बच्चों के लिए यह क्या कुछ आया है—उन बेचारों को दूध नहीं मिला तो क्या हुआ!

दवा नहीं मिली तो क्या हुआ ! झोपड़े की छत टपक कर उन्हें निमोनिया हो गया तो क्या हुआ—अरी उन्हें कफ़न तो रेशमी मिल रहे हैं !

डैपुटेशन के मेम्बर भौंचक्का होकर जल्दी से झोपड़े में घुसे तो देखा, लाजो मुँह छिपाये कोने में बैठी रो रही है और सीली ज़मीन पर पाँच नन्हीं-नन्हीं लाशें चीथड़ों में लिपटी पड़ी हैं।